अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

जून २०१९

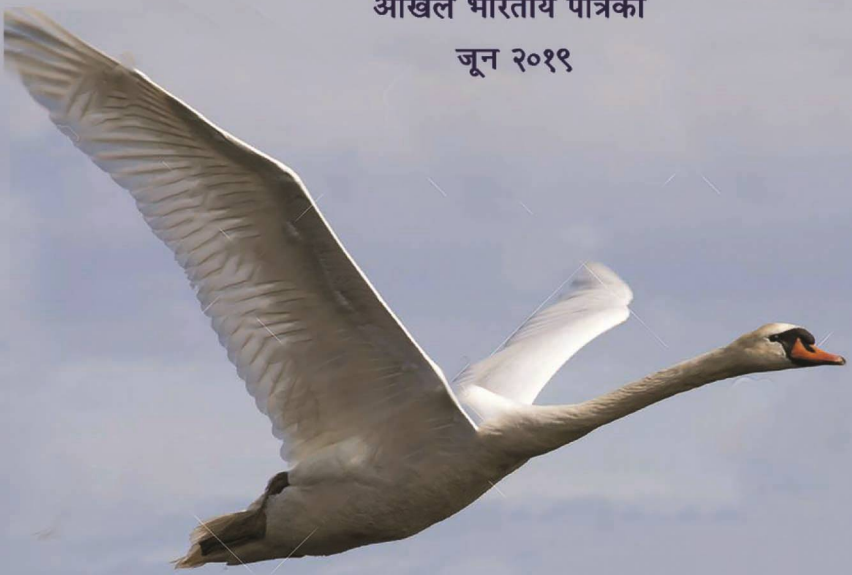

प्रार्थना का पथ

अग्निशिखा जून २०१९ वर्ष ४९, अंक ११, पूर्णांक ५८६

विषय-सूची

प्रार्थना की शक्ति

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय		३
प्रार्थना किसे कहते हैं		५
प्रार्थना की शक्ति		२२
प्रार्थना तथा आध्यात्मिक जीवन		२८
साधना-सूत्र		३५
'पुरोधा' : दैनन्दिनी		४३
अपने अन्दर प्रभु को उतारो	नवजात जी	४६
"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी' से	४८
प्रार्थना में लौलीन	वन्दना	५३
झुंझुनू-केन्द्र की सूचना	(आवरण	३)

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

सन्देश

इस योग का सारा सिद्धान्त ही है भागवत प्रभाव की ओर अपने-आपको उद्घाटित करना। यह प्रभाव तुम्हारे सिर के ऊपर ही विद्यमान है; यदि तुम एक बार इसके विषय में सचेतन हो सको तो फिर तुम्हें इसका आवाहन कर अपने अन्दर इसे उतारना होगा। वह मन के अन्दर और शरीर के अन्दर अवतरित होता है शान्ति, ज्योति, कार्य करने वाली एक शक्ति, भगवान् की साकार या निराकार उपस्थिति तथा आनन्द के रूप में। जब तक यह चेतना नहीं प्राप्त होती तब तक साधक को श्रद्धा-विश्वास बनाये रखना होगा और आत्मोद्घाटन के लिए अभीप्सा करनी होगी। अभीप्सा, आवाहन और प्रार्थना एक ही चीज़ के भिन्न-भिन्न रूप हैं और ये सभी फलदायक हैं; इनमें से जो भी रूप तुम्हारे पास आये या तुम्हारे लिए सबसे अधिक आसान हो उसी को तुम अपना सकते हो। —श्रीअरविन्द

सम्पादकीय : कुछ बुद्धिजीवियों के अन्दर यह सामान्य प्रवृत्ति होती है कि वे प्रार्थना पर धार्मिकता का बिल्ला चिपका देते हैं और इस तरह उसे बस धार्मिक और कुछ हद तक अवर कोटि की चीज़ मान बैठते हैं। बहरहाल, मानवता के आध्यात्मिक इतिहास में झाँक कर देखें तो हम पायेंगे कि आध्यात्मिक जीवन में हमेशा ही प्रार्थना का बहुत बड़ा हाथ और साथ रहा है। प्रार्थनाओं के पीछे हमेशा एक प्रकार का विवेक होता है, एक प्रक्रिया होती है, गभीर आशयों का एक ऐसा रहस्यवादी सत्य होता है जिसे मन हमेशा पकड़ नहीं पाता, लेकिन हृदय अनायास उसमें डूब जाता है।

इस अंक में हम पूर्णयोग के प्रकाश में, अपने आध्यात्मिक क्रमविकास और प्रगति के लिए, प्रार्थनाओं के विभिन्न पहलुओं का सिंहावलोकन करने का प्रयास कर रहे हैं।

तुम्हारे प्रति जो हमारे प्रभु के भौतिक आवरण रहे हो, तुम्हारे प्रति हम असीम कृतज्ञता प्रकट करते हैं। तुमने हमारे लिए इतना कुछ किया, हमारे लिए कर्म किया, संघर्ष किये, कष्ट झेले, आशा की, इतना सहन किया, तुमने हम सबके लिए संकल्प किये, सबके लिए प्रयत्न किये, तैयारी की, हमारे लिए सब कुछ प्राप्त किया, तुम्हारे सम्मुख हम नतमस्तक हैं और यह प्रार्थना करते हैं कि हम एक क्षण के लिए भी कभी तुम्हारे ऋण को न भूलें।

—श्रीमाँ

प्रार्थना किसे कहते हैं

प्रार्थना हृदय से उमड़नी चाहिये

मुझे नहीं लगता कि श्रीमाँ जो तुम्हें कहने का प्रयास कर रही थीं उसे तुमने अच्छी तरह समझा है। सबसे पहले उन्होंने यह नहीं कहा कि प्रार्थनाएँ अथवा ध्यान दोनों बेकार हैं—वे ऐसा कैसे कह सकती हैं भला जब कि दोनों योग में बहुत महत्त्व रखते हैं? उन्होंने जो कहा वह यह है कि प्रार्थना भावना अथवा अभीप्सा के शिखर पर हृदय से उमड़नी चाहिये। जप या ध्यान एक जीवन्त उत्साह में उसमें निहित वस्तु के आनन्द या ज्योति के साथ आता है। यदि इसे यन्त्रवत् किया जाये और मात्र ऐसी चीज़ के रूप में जिसे किया ही जाना चाहिये (कठोर निरानन्द कर्तव्य!) तब इसमें रुचि का अभाव हो जाता है, शुष्कता आ जाती है और इसलिए यह निष्प्रभाव हो जाता है। यही मेरा अभिप्राय था जब मैंने तुमसे यह कहा कि मैंने सोचा कि परिणाम लाने के लिए तुम साधन के रूप में कुछ ज़्यादा ही जप कर रहे हो—मेरा तात्पर्य था कि एक साधन के रूप में ज़रूरत से कुछ ज़्यादा ही, कार्य की पूर्णता के लिए एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया के समान। इसीलिए मैं चाहता था कि तुम्हारे अन्दर मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं का विकास हो, चैत्य, मानसिक—क्योंकि जब चैत्य सामने आ जाये तब प्रार्थना में, अभीप्सा में, जिज्ञासा में प्राणवन्तता तथा आनन्द का अभाव नहीं होता, भक्ति के निरन्तर प्रवाह में कोई कठिनाई नहीं होती। और जब मन स्थिर तथा अन्तर्मुखी तथा ऊर्ध्वमुखी हो जाये तब ध्यान में कोई कठिनाई या रुचि का अभाव नहीं होता। प्रसंगवश, ध्यान एक ऐसी प्रक्रिया है जो ज्ञान के माध्यम से ज्ञान की ओर ले जाती है। यह मस्तिष्क की चीज़ है, हृदय की नहीं। अतः, यदि तुम ध्यान चाहते हो तब ज्ञान के प्रति विमुखता नहीं होनी चाहिये। हृदय में एकाग्रता को ध्यान नहीं कहते, यह भगवान् के लिए, प्रेमपात्र के लिए पुकार है। यह योग भी केवल ज्ञान का योग नहीं है—ज्ञान इसके साधनों में से एक है, परन्तु, क्योंकि इसका आधार आत्म-निवेदन, समर्पण, भक्ति है, यह हृदय पर आधारित है और अन्ततः इस आधार के बिना कुछ नहीं किया जा सकता।

CWSA खण्ड २९, पृ. २२६

'भागवत कृपा' के सामने कौन योग्य है और कौन अयोग्य?
सभी तो उसी एक दिव्य 'माँ' के बालक हैं।
'उनका' प्रेम उन सब पर समान रूप से फैला हुआ है।
लेकिन 'वे' हर एक को उसकी प्रकृति और ग्रहणशीलता के अनुसार देती हैं।

—श्रीमाँ

अभीप्सा लौ की तरह फूट पड़ती है

सच्ची अभीप्सा सिर से नहीं आती; जब यह विचार के द्वारा भी निर्मित होती है तब भी यह एक लौ की तरह हृदय से फूट पड़ती है। मैं नहीं जानती कि तुमलोगों ने वेदों पर लिखे गये श्रीअरविन्द के लेखों को पढ़ा है या नहीं। उन्होंने कहीं पर यह बतलाया है कि ये मन्त्र मन के द्वारा नहीं लिखे गये थे; वे, जैसा कि लोग समझते थे, प्रार्थनाएँ नहीं थे, बल्कि अभीप्सा की अभिव्यक्ति थे जो हृदय से आने वाली लौ की तरह एक आवेग थी (यद्यपि यह "हृदय" ठीक भौतिक हृदय नहीं है, बल्कि, यथार्थ शब्द का व्यवहार किया जाये तो, यह सत्ता का आन्तरिक केन्द्र है)। वे मन्त्र "सोच-विचार कर" नहीं तैयार किये गये थे, अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं जमाये गये थे, अनुभव ठीक-ठीक, यथार्थ, अनिवार्य शब्दों में पूर्णतः रचित होकर आया—उन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सका। यही अभीप्सा का यथार्थ स्वरूप है : तुम उसको आकार देने का प्रयास नहीं करते, वह तैयार लौ की तरह तुम्हारे अन्दर से भभक उठती है। यदि शब्द होते भी हैं (कभी-कभी कोई भी शब्द नहीं होते), तो उन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता : तुम एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द नहीं रख सकते, प्रत्येक शब्द ठीक वही होता है जो उपयुक्त होता है। जब अभीप्सा को आकार दिया जाता है तो वह रूप सीधे, निरपेक्ष रूप से, परिवर्तन की किसी सम्भावना के बिना दिया जाता है। और यह हमेशा ही कोई ऐसी चीज़ होती है, जो एकाएक उमड़ पड़ती और अपने-आपको दे देती है, जब कि माँग का यथार्थ स्वरूप ही होता है चीज़ों को अपनी ओर खींचना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १६१

प्रार्थना ललक के साथ हृदय से उठनी चाहिये

"मैं बड़े उत्साह और तीव्रता के साथ ध्यान और प्रार्थना करना आरम्भ करता हूँ, मेरी अभीप्सा गहरी होती है और मेरी प्रार्थना भक्ति से भरी; और फिर, कुछ समय के बाद—कभी तो शीघ्र ही और कभी देर से—अभीप्सा यन्त्रवत् और प्रार्थना शुद्ध शाब्दिक बन जाती है। मुझे क्या करना चाहिये?"

यह कोई व्यक्तिगत स्थिति नहीं है, बिलकुल सार्वजनीन है। मैं पहले ही यह बात कई बार कह चुकी हूँ, पर कही थी बातों-ही-बातों में, कि जो लोग रोज़ घण्टों ध्यान करने का दिखावा करते हैं और सारा दिन प्रार्थना में बिताते हैं, मुझे ऐसा लगता है कि तीन-चौथाई समय तक वह पूर्णतः यन्त्रवत् ही चलता रहता है; कहने का मतलब यह कि उसमें ज़रा भी सच्चाई नहीं रह जाती। कारण, मानव-प्रकृति ऐसी चीज़ के लिए नहीं बनी है और मानव-मन उस ढंग से निर्मित नहीं हुआ है।

एकाग्र होने और ध्यान करने के लिए मनुष्य को एक प्रकार की कसरत करनी चाहिये जिसे मैं एकाग्रता का "मानसिक मांसपेशी-निर्माण" कह सकती हूँ। तुम्हें सचमुच प्रयास करना होगा—जैसे कि मनुष्य, उदाहरणार्थ, वज़न उठाने के लिए अपनी मांसपेशियों से प्रयास करता है—यदि तुम चाहो कि तुम्हारी एकाग्रता सच्ची हो, नकली न हो।

वही बात प्रार्थना के लिए व्यग्रता की है : एकाएक एक लौ जल उठती है, तुम एक उत्साहपूर्ण आवेग, एक तीव्र आतुरता महसूस करते हो और उसे शब्दों में व्यक्त करते हो जिसे, सच पूछो तो, सहज-स्फूर्त होना चाहिये। इसे सीधे हृदय से, तीव्रता के साथ, मस्तिष्क में से गुज़रे बिना आना चाहिये। वही है प्रार्थना। यदि वे तुम्हारे मस्तिष्क में धक्कम-धक्का करने वाले केवल शब्द हों तो फिर वह कोई प्रार्थना बिलकुल नहीं रह जाती। हाँ, यदि तुम आग में अधिक ईंधन न डालो तो कुछ समय बाद वह बुझ जाती है। यदि तुम अपनी मांसपेशियों को विश्राम करने का समय न दो, यदि तुम अपनी गतिविधियों को कम न करो तो तुम्हारी मांसपेशियाँ श्रम करने की क्षमता खो बैठेंगी। अतएव यह बिलकुल स्वाभाविक है, और यहाँ तक कि अनिवार्य है, कि कुछ समय के बाद क्रिया की तीव्रता नष्ट हो जाती है। स्वाभाविक है कि जो वज़न उठाने का आदी है वह, उसकी अपेक्षा जिसने कभी भार नहीं उठाया, अधिक देर तक उठाये रह सकता है। बस, वही बात है; जिसे एकाग्र होने का अभ्यास है वह उस व्यक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक देर तक एकाग्र रह सकता है जिसे उसका अभ्यास नहीं है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक क्षण आता है जब उसे बन्द कर देना पड़ता है, विश्राम करना पड़ता है ताकि फिर दुबारा आरम्भ किया जाये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २७४-७५

अच्छी रचनाएँ बनाने की शक्ति

तुम अच्छे रूप बना सकते हो और अगर तुम उन्हें ठीक तरह से बनाओ तो वे भी उसी तरह काम करेंगे जैसे दूसरे काम करते हैं। तुम अपने कमरे में बैठे-बैठे लोगों का बहुत भला कर सकते हो, शायद बाहरी तौर पर बहुत सारी तकलीफ़ उठा कर जितना किया जाता उससे भी अधिक। शक्ति, बुद्धिमत्ता और सहृदयता के साथ अगर तुम ठीक तरह से सोचना जानो, अगर तुम किसी से प्रेम करते हो और बहुत निष्कपट भाव से, गहराई से, अपने पूरे हृदय के साथ उसका भला चाहो तो इससे उसका बहुत भला हो सकता है, तुम जितना समझते हो उससे निश्चित रूप से बहुत ज़्यादा। मैंने यह बात बहुत बार कही है। उदाहरण के लिए, जो लोग यहाँ हैं, जिन्हें पता लगता है कि उनके परिवार में कोई बहुत बीमार है, तो उनके अन्दर यह बचकाना आवेग पैदा होता है कि दौड़ कर वहाँ जा पहुँचें और रोगी की देखभाल करें। मैं तुमसे कहती हूँ, जब तक कि कोई अपवादरूप स्थिति न हो, जहाँ रोगी की देखभाल करने के लिए कोई भी न हो (और कभी-कभी ऐसी स्थिति में भी), अगर तुम ठीक मनोभाव रखना जानो और प्रेम और सद्भावना के साथ रोगी पर एकाग्र हो सको, अगर तुम उसके लिए प्रार्थना करना और सहायक रचनाएँ बनाना जानो तो तुम उस स्थिति की अपेक्षा बहुत ज़्यादा भला कर सकोगे जब तुम वहाँ जाकर उसकी सेवा-शुश्रूषा करते, उसे खिलाते-पिलाते, नहाने-धोने में उसकी सहायता करते और ऐसे सब काम करते जो हर एक कर सकता है। बीमार की परिचर्या कोई भी कर सकता है, लेकिन हर एक अच्छी रचनाएँ नहीं बना सकता और ऐसी शक्तियाँ नहीं भेज सकता जो उसे अच्छा करने के लिए काम करें।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १४६

अभीप्सा तथा प्रार्थना

तुम्हारे अन्दर अभीप्सा हो सकती है और तुम उसे प्रार्थना के रूप में लिख सकते हो, लेकिन अभीप्सा हर तरह से प्रार्थना के पार जाती है। यह बहुत अधिक क़रीब होती है और मानों अपने-आपको बहुत ज़्यादा भूल कर केवल उसी चीज़ के लिए जीती है जो व्यक्ति बनना या करना

चाहता है। और व्यक्ति जो कुछ करना चाहता है अभीप्सा उस सारे का भगवान् के प्रति अर्पण है। तुम कुछ पाने के लिए प्रार्थना कर सकते हो, तुम, भगवान् ने तुम्हें जो कुछ दिया है उसके लिए कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए भी प्रार्थना कर सकते हो और यह ज़्यादा बड़ी प्रार्थना है। इसे कृतज्ञता-प्रकाशन की क्रिया कह सकते हैं। भगवान् ने तुम पर जो दया की है, उन्होंने तुम्हारे लिए जो कुछ किया है, तुम उनके अन्दर जो देखते हो, इन सबके लिए अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए, उनकी स्तुति करने के लिए तुम प्रार्थना कर सकते हो। यह सब प्रार्थना का रूप ले सकता है। निश्चित रूप से यह सबसे ऊँची प्रार्थना है, क्योंकि यह ऐकान्तिक रूप से अपने अन्दर ही नहीं व्यस्त होती, यह अहंकारमयी प्रार्थना नहीं है।

निश्चय ही व्यक्ति सभी क्षेत्रों में अभीप्सा कर सकता है, लेकिन अभीप्सा का सच्चा केन्द्र चैत्य पुरुष में है, जब कि व्यक्ति सभी क्षेत्रों में प्रार्थना कर सकता है और प्रार्थना उसी क्षेत्र की होती है जिसमें की जाती है। तुम शुद्ध रूप से भौतिक प्रार्थनाएँ, शारीरिक प्रार्थनाएँ, प्राणिक प्रार्थनाएँ, मानसिक प्रार्थनाएँ, चैत्य प्रार्थनाएँ, आध्यात्मिक प्रार्थनाएँ कर सकते हो, हर एक की अपनी विशेषता होती है, हर एक का अपना विशेष मूल्य होता है।

एक तरह की प्रार्थना सहज और निस्स्वार्थ होती है, एक बहुत बड़ी पुकार की न्याईं जो साधारणतः व्यक्तिगत रूप से अपने लिए न होकर भगवान् की मध्यस्थता के लिए निवेदन के रूप में कही जा सकती है। यह बहुत शक्तिशाली होती है। मैंने ऐसे अनगिनत उदाहरण देखे हैं जिनमें इस प्रकार की प्रार्थना के कारण चीज़ें तुरन्त चरितार्थ हुई हैं। इसमें बहुत ज़्यादा श्रद्धा, बहुत उत्साह, बहुत सच्चाई और निष्कपटता तथा हृदय की बहुत अधिक सरलता होनी चाहिये, ऐसी चीज़ होनी चाहिये जो लेखा-जोखा नहीं करती, योजना नहीं बनाती, मोल-भाव नहीं करती और जब देती है तो बदले में कुछ पाने के विचार से नहीं। क्योंकि अधिकतर लोग एक हाथ से देते हैं और दूसरा हाथ बदले में कुछ पाने के लिए फैलाए रखते हैं, प्रार्थनाओं की सबसे अधिक संख्या इसी तरह की होती है। लेकिन और तरह की प्रार्थनाएँ भी होती हैं जिनका मैंने उल्लेख किया है, कृतज्ञता-प्रकाशन की, एक प्रकार के भजन, और ये प्रार्थनाएँ बहुत अच्छी होती हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १५६-५७

प्रार्थना सुनने वाला कोई तो है!

... प्रार्थना हमेशा शब्दों में सूत्रबद्ध होती है; परन्तु वे किस स्थिति में सूत्रबद्ध किये गये हैं इसके अनुसार उन शब्दों का मूल्य अलग-अलग हो सकता है। व्यक्ति अभीप्सा कर सकता है, लेकिन किसी से निवेदन किये बिना प्रार्थना करना कठिन है। उदाहरण के लिए, जिन लोगों में एक ऐसे विश्व की धारणा है जिसमें से न्यूनाधिक रूप में भगवान् के विचार को खदेड़ दिया गया है (इस प्रकार के बहुत-से लोग हैं; यह विचार उन्हें कष्ट देता है—यह विचार कि कोई ऐसा है जो सब कुछ जानता है, जो सब कुछ कर सकता है, जो उनसे इतना अधिक बड़ा है कि कोई तुलना ही नहीं हो सकती; यह विचार ज़रा कष्टदायक होता है उनके आत्म-सम्मान के लिए, इसलिए वे एक ऐसा जगत् बनाने की कोशिश करते हैं जिसमें भगवान् न हो), ये लोग, स्पष्ट है, प्रार्थना नहीं कर सकते। वे किससे प्रार्थना करेंगे? एक ही उपाय है, वे अपने-आपसे प्रार्थना करें, पर इसका रिवाज नहीं है! लेकिन भगवान् पर श्रद्धा हुए बिना भी व्यक्ति किसी चीज़ के लिए अभीप्सा कर सकता है। ऐसे लोग हैं जिन्हें भगवान् के अस्तित्व पर विश्वास नहीं है, परन्तु वे प्रगति में विश्वास करते हैं। उनकी धारणा है कि जगत् हमेशा प्रगति करता रहता है और यह प्रगति बिना रुके, अधिकाधिक सुधार की ओर हमेशा चलती चली जायेगी। तो, इन लोगों में प्रगति के लिए बहुत अभीप्सा हो सकती है, और इसके लिए उन्हें किसी दिव्य सत्ता की धारणा की ज़रूरत नहीं होती। अभीप्सा में निश्चित रूप से श्रद्धा की ज़रूरत तो होती है पर यह ज़रूरी नहीं है कि वह श्रद्धा किसी भागवत सत्ता के लिए ही हो; जब कि प्रार्थना किसी भागवत सत्ता को सम्बोधित किये बिना हो ही नहीं सकती। और प्रार्थना किससे की जाये? तुम किसी ऐसी चीज़ से प्रार्थना नहीं कर सकते जिसका व्यक्तित्व ही न हो! हम उसी से प्रार्थना कर सकते हैं जो हमारी प्रार्थना सुने। अगर सुनने वाला कोई नहीं है तो प्रार्थना किससे और कैसे की जाये? इसलिए अगर कोई प्रार्थना करता है, सुनवाई होने के लिए प्रार्थना करता है तो इसका अर्थ है कि स्वीकार न करते हुए भी व्यक्ति को अपने से बहुत अधिक शक्तिशाली सत्ता पर विश्वास है जो हमारी नियति को बदल सकती है, और हमें भी। यह मौलिक भेद है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १५७-५८

रहस्यवादी तुमसे कहते हैं कि अभीप्सा बहुत ठीक है, लेकिन अगर तुम चाहते हो कि सचमुच तुम्हारी बात सुनी जाये, और चाहते हो कि भगवान् तुम्हारी बात सुनें तो तुम्हें प्रार्थना करनी चाहिये और एक बालक की सरलता के साथ, पूर्ण निष्कपटता के साथ, यानी, पूरे विश्वास के साथ प्रार्थना करनी चाहिये : "मुझे इस या उस चीज़ की ज़रूरत है (वह चाहे नैतिक ज़रूरत हो या भौतिक या शारीरिक आवश्यकता हो), तो, मैं तुमसे यह माँगता हूँ, मुझे दे दो।" या फिर "मैंने जो माँगा था वह तुमने दे दिया। तुमने मुझे मूर्त रूप में वे अनुभूतियाँ प्रदान कीं जो मेरे लिए अजानी थीं और अब वे ऐसी अद्‌भुत चीज़ें बन गयी हैं जिन्हें मैं चाहते ही पा सकता हूँ; हाँ, मैं तुम्हारे प्रति अत्यधिक कृतज्ञ हूँ। मैं कृतज्ञता-भरी प्रार्थना निवेदित करता हूँ, तुम्हारी स्तुति के गीत गाता हूँ और तुम्हारे हस्तक्षेप के लिए तुम्हें धन्यवाद देता हूँ।" यह ऐसे होती है। अभीप्सा के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी के प्रति, किसी की ओर निर्दिष्ट हो। तुम्हारे अन्दर सत्ता की किसी दशा के लिए, ज्ञान के लिए, उपलब्धि के लिए, चेतना की किसी अवस्था के लिए अभीप्सा हो सकती है; तुम किसी चीज़ के लिए अभीप्सा कर सकते हो; परन्तु यह आवश्यक रूप से प्रार्थना नहीं होती; प्रार्थना कुछ अतिरिक्त चीज़ होती है।

प्रार्थना व्यक्तिगत चीज़ है और व्यक्ति-रूप सत्ता से की जाती है, यानी, किसी ऐसी चीज़ से—शक्ति या सत्ता से—जो तुम्हारी बात सुन सकती और तुम्हें उत्तर दे सकती है। अन्यथा तुम कुछ माँग नहीं सकते। समझे?

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १५८-५९

हृदय के अन्दर ज्योति जगाओ और प्रार्थना करो

उस छोटे बच्चे की तरह होने की जगह जो घुटने टेक कर, हाथ जोड़ कर कहता है; "मेरे भगवान्, मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ, मुझे अच्छा बच्चा बनाओ, मैं कभी अपनी माँ को चोट न पहुँचाऊँ...।" यह बहुत सरल है और वास्तव में मैं यह नहीं कह सकती कि यह बुरा है। यह बहुत अच्छा है। हाँ, लेकिन ऐसे बच्चे भी हैं जिनके साथ ये बातें नहीं चलेंगी, क्योंकि वे कहेंगे : "मैं 'तुमसे' यह क्यों कहूँ कि मुझे अच्छा बना दो? मेरी माँग के बिना ही 'तुम्हें' मुझे अच्छा बनाना चाहिये; अन्यथा तुम भले नहीं हो!" जब किसी का हृदय बहुत सरल हो और वह ज़्यादा सोचता न हो तब यह बहुत अच्छी बात है, लेकिन जब कोई सोचना शुरू करता है तो बात अधिक कठिन हो जाती है। लेकिन अगर तुम्हारे साथ ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो कहे : उसकी जगह—मोमबत्ती जलाने, घुटने टेकने और हाथ जोड़ने की जगह—अपने हृदय में ज्योति जगाओ और उसकी ओर अभीप्सा करो जो "अधिक सुन्दर, अधिक सत्य, अधिक उदात्त है, जो कुछ मैं जानता हूँ उससे अधिक अच्छा है। मैं याचना करता हूँ कि कल से मैं इन सब चीज़ों को जानना शुरू करूँ, मैं जिन चीज़ों को नहीं कर सकता उन सबको करना शुरू करूँ, और हर रोज़ कुछ अधिक।" और तब यदि तुम अपने-आपको ज़रा बाहर निकालो, अगर किसी-न-किसी कारण, तुम संसार में बहुत अधिक दुःख-दारिद्र्य के आगे खड़े कर दिये जाओ, अगर तुम्हारे मित्र दुःखी हों या सगे-सम्बन्धी कष्ट में हों या तुम्हें किसी तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा हो, कुछ भी, तो तुम यह माँगो कि समग्र चेतना **एक साथ** उस पूर्णता की ओर उठा दी जाये जिसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है, और यह सारा अज्ञान, जिसने जगत् को इतना दुःखी बना दिया है, आलोकमय ज्ञान में बदल जाये और सारा अशुभ ज्योतिर्मय होकर शुभचिन्ता में बदल जाये। और फिर जहाँ तक कर सको, जहाँ तक समझ सको, अपने पूरे हृदय से चाहो; और वास्तव में वह प्रार्थना का रूप ले सकता है और तुम याचना कर सकते हो—किससे याचना?—उससे याचना जो जानता है, जो कर सकता है, उस समस्त से याचना जो तुमसे अधिक बड़ा और अधिक बलवान् है, उससे याचना करो कि ऐसा हो सके। और ये प्रार्थनाएँ कितनी सुन्दर होंगी!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १८०-८१

श्रद्धा चमत्कार कर सकती है

देखो, श्रद्धा न हो तो प्रार्थना करना कठिन है, परन्तु यदि व्यक्ति अपने अन्दर श्रद्धा बढ़ाने के लिए, या अभीप्सा करने के लिए, अथवा अपने अन्दर श्रद्धा उत्पन्न करने की अभीप्सा करने के लिए प्रार्थना को साधन बना सके... इनमें से अधिकांश के लिए उसे प्रयत्न करना पड़ेगा। यदि व्यक्ति के पास कोई वस्तु नहीं है और वह उसे प्राप्त करना चाहता है, तो उसे लम्बे समय तक बहुत, बहुत ही अधिक अथक प्रयत्न करना पड़ेगा, एक सतत अभीप्सा, एक स्थिर संकल्प, हर क्षण पूर्ण सच्चाई अपने अन्दर लानी ही होगी; और तब यह निश्चित है कि यह सब एक दिन आयेगा—यह एक सेकेण्ड में भी आ सकता है। कुछ लोगों के पास यह होता है, और फिर उनके अन्दर की विरोधी क्रियाएँ आकर उन पर आक्रमण कर देती हैं। यदि ऐसे लोगों का संकल्प सच्चा हो, तो वे अपनी श्रद्धा की रक्षा कर सकते हैं, आक्रमणों को धकिया सकते हैं। ऐसे लोग भी होते हैं जो सन्देह को पोषण देते हैं क्योंकि यह एक प्रकार का कलानुराग है—वह, उससे अधिक ख़तरनाक और कुछ नहीं होता। यह ऐसा है मानों फल में कीड़ा घुसने दिया जाये : वह सारे फल को खाकर ही दम लेगा। दूसरे शब्दों में, जब कोई ऐसी क्रिया तुम्हारे अन्दर प्रवेश करे—सामान्यतया यह पहले मन में आती है—तो पहला काम जो करना चाहिये वह यह कि दृढ़तापूर्वक इसे अस्वीकार कर दो। निश्चय ही यह न होना चाहिये कि व्यक्ति खड़ा देखता रहे, मज़ा लेता रहे कि क्या हो रहा है; इस तरह का कुतूहल बड़ा भयावह होता है। बुद्धिजीवियों में श्रद्धा का होना अपेक्षाकृत अधिक कठिन होता है, जो लोग सरल, सच्चे और सीधे-सादे होते हैं, जिनमें बौद्धिक जटिलताएँ नहीं होतीं, उन्हें अधिक आसानी से यह प्राप्त हो जाती है। किन्तु मेरे विचार में, यदि किसी बुद्धिजीवी में श्रद्धा हो, तो वह बड़ी शक्तिशाली बन जाती है, इतनी शक्तिशाली कि वह सचमुच चमत्कार कर सकती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. १३८-३९

भरोसे से भरी प्रार्थनाएँ

हाँ तो, जब तुम दिव्य 'शक्ति' के लिए अभीप्सा करो, जब तुम भगवान् से सहायता माँगो और इस अटल विश्वास के साथ माँगो कि वह आयेगी,

कि यह असम्भव है कि वह न आये, तो वह निश्चय ही आयेगी। वह इस प्रकार... हाँ, यह विश्वास सचमुच आन्तरिक उद्‌घाटन है। कुछ लोग हमेशा इस स्थिति में रहते हैं। जब कोई चीज़ ग्रहण करनी होती है, तो वे हमेशा ग्रहण करने के लिए मौजूद रहते हैं। कुछ और लोग ऐसे होते हैं कि जब कुछ पाना हो, कोई शक्ति उतर रही हो, तो वे हमेशा अनुपस्थित रहते हैं; उस समय वे हमेशा बन्द रहते हैं; जब कि वे, जिनमें बच्चों का-सा विश्वास होता है, हमेशा ठीक समय पर मौजूद होते हैं।

और यह आश्चर्य की बात है, है न, कि बाहर से दोनों में कोई फ़र्क नहीं होता। उनमें ठीक एक जैसी सद्‌भावना हो सकती है, एक ही अभीप्सा, भला करने की एक-सी भावना हो सकती है, लेकिन जिन लोगों में यह मुस्कुराता विश्वास होता है, वे अपने-आपसे यह नहीं पूछते कि उन्हें चीज़ मिलेगी या नहीं, भगवान् उत्तर देंगे या नहीं—यह प्रश्न ही नहीं उठता, यह तो होगा ही...। "मुझे जिस चीज़ की ज़रूरत होगी, वह मुझे दे दी जायेगी; अगर मैं प्रार्थना करूँ तो उत्तर मिलेगा ही; अगर मैं कठिनाई में हूँ और सहायता माँगूँ तो सहायता मिलेगी ही—केवल इतना ही नहीं कि वह आयेगी, बल्कि वह सब कुछ व्यवस्थित भी कर लेगी।" अगर सहज, निष्कपट, बिना ननुनच करने वाला विश्वास है, तो वह सबसे अच्छा कार्य करता है, और परिणाम अद्‌भुत आते हैं। तुम अपने मन की दुविधाओं और सन्देहों के कारण सब कुछ बिगाड़ देते हो। कठिनाई के समय इस प्रकार की धारणाओं से: "ओह, यह तो असम्भव है! मैं यह कभी न कर पाऊँगा। मैं जिस अवस्था में हूँ उसे बिलकुल नहीं पसन्द करता, लेकिन अगर यह बिगड़ जाये, अगर मैं ज़्यादा-ज़्यादा नीचे खिसकता जाऊँ, अगर, अगर, अगर, अगर..." और इस प्रकार तुम अपने और जिस शक्ति को ग्रहण करना चाहते हो उसके बीच दीवार खड़ी कर लेते हो। चैत्य पुरुष में यह विश्वास होता है, उसमें यह बिना किसी छाया, बिना किसी बहस के, बिना किसी दुविधा के आश्चर्यजनक रूप से होता है। और जब ऐसा हो, तो ऐसी कोई प्रार्थना नहीं होती जिसका उत्तर न मिले, ऐसी कोई अभीप्सा नहीं होती जो सिद्ध न हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४५५-५६

प्रार्थना तथा अभीप्सा

एक पूरी तरह यान्त्रिक प्रार्थना होती है जिसमें कुछ शब्द सीख कर यान्त्रिक रूप से दोहराये जाते हैं। इसका कोई बहुत अर्थ नहीं होता। और साधारणतः उसका एक ही परिणाम होता है, और वह है प्रार्थना करने वाले को ज़रा शान्त कर देना। अगर व्यक्ति बहुत बार एक ही प्रार्थना दोहराये तो शब्द उसे अन्त में शान्त कर देते हैं।

एक प्रार्थना सहज सूत्र के रूप में होती है जो ठीक वही प्रकट करती है जो व्यक्ति माँगना चाहता है : व्यक्ति इस चीज़ या उस चीज़ के लिए प्रार्थना करता है, वह किसी व्यक्ति के लिए, किसी परिस्थिति के लिए या स्वयं अपने लिए प्रार्थना कर सकता है।

एक ऐसा बिन्दु है जहाँ प्रार्थना और अभीप्सा मिल जाते हैं, क्योंकि ऐसी प्रार्थनाएँ हैं जो जिये हुए अनुभव का सहज सूत्रीकरण होती हैं। ये सत्ता के अन्दर से तैयार होकर फूट निकलती हैं। उस चीज़ की तरह जो गहरी अनुभूति की अभिव्यक्ति हो और जो उस अनुभूति के लिए कृतज्ञता प्रकट करती हो या उसे जारी रखना चाहती हो या उसकी व्याख्या भी चाहती हो; यह बिलकुल अभीप्सा के निकट है। लेकिन अभीप्सा के लिए ज़रूरी नहीं है कि वह शब्दों में पिरोयी जाये; या यदि वह शब्दों में पिरोयी गयी हो तो वह आवाहन की एक क्रिया होती है। तुम अमुक स्थिति के लिए अभीप्सा करते हो; उदाहरण के लिए, तुमने अपने अन्दर कोई ऐसी चीज़ देखी है जो तुम्हारे आदर्श के साथ मेल नहीं खाती, अन्धकार और अज्ञान की एक क्रिया, शायद दुर्भावना की भी—कोई ऐसी चीज़ जो उस चीज़ के साथ ताल-मेल में नहीं है जिसे तुम चरितार्थ करना चाहते हो; तो वह शब्दों में अभिव्यक्त नहीं होगी। वह उछलती हुई एक लपट की तरह होगी, एक जीवन्त अनुभूति की आहुति जैसी होगी, जो ज़्यादा बड़ी होना चाहती है, विशाल बनना चाहती है, ज़्यादा स्पष्ट और यथार्थ होना चाहती है। अगर व्यक्ति अपनी अनुभूति को याद करके उसे लिखने की कोशिश करे तो यह सब बाद में शब्दों में लिखा जा सकता है। लेकिन अभीप्सा हमेशा ज्वाला की तरह लपकती है, ऊपर उठती है और अपने अन्दर उस चीज़ को लिये होती है जो व्यक्ति बनना चाहता है, या जो करना चाहता है या जो पाना चाहता है। मैंने यहाँ "चाहना" शब्द का प्रयोग किया है,

लेकिन यहाँ सचमुच "अभीप्सा करना" होना चाहिये क्योंकि उसमें चाहने, यानी, इच्छा करने का गुण या रूप नहीं होता।

यह सचमुच संकल्प की एक महान् पावन ज्वाला के समान होती है और उसके बीचोबीच वह चीज़ होती है जिसे वह चरितार्थ करना चाहती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १५४-५५

'वे' देने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं

परन्तु, माँ, जब मनुष्य 'कृपा' के हस्तक्षेप करने के लिए सच्चाई के साथ प्रार्थना करता है तो क्या वह किसी विशेष परिणाम की आशा नहीं करता?

क्षमा करना, यह निर्भर करता है प्रार्थना की भावना पर। यदि कोई 'कृपा' या भगवान् को मात्र पुकारता है और अपने-आपको उसके हाथों में सौंप देता है तो वह किसी विशिष्ट परिणाम की आशा नहीं करता। किसी विशिष्ट परिणाम की आशा करने के लिए मनुष्य को अपनी प्रार्थना को शब्दबद्ध करना होगा, कोई चीज़ माँगनी होगी। यदि तुम्हारे अन्दर भागवत 'कृपा' के लिए केवल एक महान् अभीप्सा है और तुम उसका आवाहन करते हो, उससे कोई भी निश्चित वस्तु माँगे बिना, उससे अनुनय-विनय करते हो तो उस समय तुम नहीं, स्वयं 'कृपा' ही यह चुनाव करेगी कि वह तुम्हारे लिए क्या करे।

यह तो और भी अच्छा है, है न?

आह! यह तो बिलकुल दूसरा प्रश्न है।

स्पष्ट ही, वह शायद अपने ढंग की उच्चतर वस्तु होगी। परन्तु, फिर भी, यदि हम कोई निश्चित वस्तु चाहते हैं तो यह कहीं अधिक अच्छा है कि उसे व्यक्त किया जाये। यदि 'कृपा' को पुकारने का कोई विशेष कारण हो तो यह अधिक अच्छा है कि उसे ठीक-ठीक और स्पष्ट रूप में व्यक्त किया जाये।

निस्सन्देह, यदि कोई पूर्ण समर्पण की स्थिति में हो और अपने-आपको सम्पूर्ण रूप में दे दे, यदि कोई अपने-आपको सिर्फ़ 'कृपा' के हाथों अर्पित

कर दे और वह जो चाहे वही उसे करने दे तो यह बहुत अच्छा है। परन्तु उसके बाद उसे यह नहीं पूछना चाहिये कि वह क्या करती है! मनुष्य को उससे यह नहीं कहना चाहिये: "ओह! मैंने यह चीज़ पाने के विचार से वैसा किया था," क्योंकि यदि कोई वास्तव में कोई चीज़ प्राप्त करने की भावना रखता हो तो यह कहीं अधिक अच्छा है कि उसे पूर्ण सच्चाई के साथ, सरल ढंग से, ठीक जैसी वह चीज़ दिखती है, व्यक्त किया जाये। उसके बाद, यह चुनाव करना 'कृपा' का कार्य है कि वह उसे करेगी या नहीं करेगी; पर हर हालत में, मनुष्य जो कुछ चाहता है उसको उसे स्पष्ट रूप में कहना ही होगा। और उसमें कोई हर्ज़ नहीं है।

यह बात उस समय बुरी हो जाती है जब प्रार्थना स्वीकृत नहीं होती और मनुष्य विद्रोह कर बैठता है। तब स्वभावतः वह बात बुरी हो जाती है। वास्तव में उस समय मनुष्य को यह समझना चाहिये कि जो कामना उसमें है वह, अथवा उसकी अभीप्सा बहुत प्रदीप्त नहीं रही होगी और सम्भवतः उसने कोई ऐसी चीज़ माँगी होगी जो उसके लिए एकदम अच्छी नहीं थी। तब, उस समय उसे थोड़ा समझदार होना चाहिये और बस यह कहना चाहिये: "ठीक है, तेरी इच्छा पूर्ण हो।" परन्तु जब तक मनुष्य में कोई आन्तरिक चाह और आन्तरिक अभिरुचि हो, तो उसे मूर्त रूप देने में कोई हर्ज़ नहीं है। यह बहुत स्वाभाविक क्रिया है।

उदाहरणार्थ, यदि किसी ने मूर्खता कर दी है अथवा कोई भूल कर दी है और वह सचमुच, सच्चाई के साथ यह चाहता है कि उसे दुबारा कभी न करे तो हाँ, मैं उसके लिए याचना करने में कोई हानि नहीं देखती। और वास्तव में, यदि कोई सच्चाई के साथ, सच्ची आन्तरिक सच्चाई के साथ, उसके लिए प्रार्थना करे तो इस बात की बहुत सम्भावना है कि वह मंज़ूर हो जाये।

तुम्हें यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि भगवान् तुम्हारा विरोध करना चाहते हैं। वे इसे बिलकुल नहीं चाहते! तुम्हारे लिए सचमुच क्या अच्छा है, यह वे तुमसे अधिक अच्छे रूप में देख सकते हैं; परन्तु यथार्थ में जब यह एकदम अनिवार्य हो जाता है केवल तभी वे तुम्हारी अभीप्सा का विरोध करते हैं। अन्यथा वे सर्वदा माँगी हुई वस्तु देने के लिए तैयार रहते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३०७-०९

विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाएँ

भक्त कई प्रकार के होते हैं, साथ ही प्रार्थनाएँ भी। दुःख का मारा कोई अपने कष्टों से मुक्ति पाने और सहायता के लिए भगवान् को अपनी प्रार्थनाओं और स्तुति-गीतों की गुहार से आर्त भक्त की पदवी पा सकता है। कामनाओं से पूर्ण भक्त होता है जो धन-दौलत, पद-यश, सुख-समृद्धि, जय-गौरव, सुख-भोग, मुक्ति इत्यादि पाने के लिए प्रभु की टेर लगाता है, उनके गुणगान गाता है ताकि उसका प्रयोजन सिद्ध हो जाये। इस कोटि के भक्त कभी-कभी अपने भगवान् को प्रलोभन भी देते हैं, उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए बहुत कुछ करते हैं; कुछ अगर अपना लक्ष्य पाने में असफल हो जायें तो वे प्रभु से इतने रुष्ट हो जाते हैं कि उन्हें कोसने में कसर नहीं छोड़ते, उन पर क्रूर होने की मोहर लगा देते हैं, उन्हें छली-कपटी नाम दे डालते हैं और यह घोषणा कर बैठते हैं कि "अब मैं कभी भगवान् की पूजा नहीं करूँगा, उनके भजन नहीं गाऊँगा, कभी उनका मुँह तक न देखूँगा, अब मेरा उनसे कोई लेना-देना नहीं, मैं उन्हें अस्वीकार करता हूँ।" और कुछ निराशा में नास्तिक बन कर इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि यह संसार दुःख का डेरा है, यहाँ बस यातना की डुगडुगी पिटती है और यहाँ भगवान् नाम की कोई चीज़ ही नहीं है। यह दोनों प्रकार की भक्ति अज्ञानी भक्ति है; लेकिन फिर भी इसका तिरस्कार नहीं करना चाहिये, क्योंकि नीचे से ही व्यक्ति ऊपर चढ़ सकता है। अज्ञान ज्ञान की ओर लिया गया पहला पग होता है। बालक अज्ञानी होता है परन्तु उसके अज्ञान में भी एक मन्त्रमुग्धता होती है। बच्चा भी अपनी माँ के पास रोता हुआ आता है, अपने दुःख-दर्द उस पर डाल कर स्वयं ठीक हो जाता है, अपना सन्तोष पाने, अपनी बात मनवाने, अपनी इच्छा पूरी करने के लिए माँ की मनुहार-मनौवल करता है और अगर माँ उसकी माँगों को अस्वीकार कर दे तो आग-बबूला हो जाता है, घर सिर पर उठा लेता है। इतना सब होते हुए भी जगज्जननी अपने अज्ञानी भक्तों के सभी दावों, माँगों और चिल्ल-पों को मुस्कुराती हुई सह लेती हैं।

अब आता है ज्ञान-पिपासु भक्त; ऐसा भक्त अपने प्रभु को ख़ुश करने या इच्छित वस्तु पाने के लिए उनकी स्तुति में गीत नहीं गाता, प्रार्थना में लीन नहीं रहता, क्योंकि उसके लिए भजन तथा प्रार्थना बस भगवान् के

अस्तित्व को जानने और स्वयं उसकी अपनी चेतना को विकसित करने के साधन हैं। वैसे ज्ञानी भक्त के लिए यह आवश्यकता भी नहीं रहती; क्योंकि वह आत्म-सचेतन हो जाता है, उसकी चेतना सुदृढ़ और सुप्रतिष्ठित हो चुकी होती है : भजन तथा प्रार्थनाएँ हृदय के उद्‌गारों की बाढ़ को बहाने के लिए आवश्यक होते हैं।

गीता कहती है कि चार प्रकार के ये सभी भक्त उदार-हृदय होते हैं, इनमें से किसी की अवहेलना नहीं की जा सकती, सभी भगवान् के प्रिय होते हैं, लेकिन इनमें से ज्ञानी का पद सबसे ऊँचा होता है; क्योंकि जिसके पास ज्ञान है, प्रभु जिसके समीप हैं उसके लिए ज्ञान तथा प्रेम अभिन्न हो जाते हैं।

—श्रीअरविन्द की 'बंगला रचनाओं' से

सम्मिलित ध्यान तथा प्रार्थना

सम्मिलित ध्यान में कुछ लोग एकत्र होकर किसी सुनिश्चित प्रयोजन से ध्यान करते हैं; उदाहरणार्थ, सभी कालों में प्रार्थना के लिए लोग एक जगह एकत्र हुआ करते थे। अवश्य ही गिरजाघरों में, यह एक प्रकार का सम्मिलित ध्यान ही है। परन्तु गिरजाघर से बाहर भी, ऐसे लोग रहे हैं जिन्होंने सार्वजनिक प्रार्थनाओं के लिए सम्मिलित ध्यान का आयोजन किया था। ये प्रार्थनाएँ दो प्रकार की होती हैं।

हम जानते हैं कि मानव-इतिहास के प्रारम्भ से लोगों के कुछ समुदाय अपनी आन्तरात्मिक स्थितियों को सम्मिलित रूप से अभिव्यक्त करने के लिए एक जगह एकत्र हुआ करते थे। कुछ लोग मिल कर परमात्म-स्तुति के गीत गाने, भजन गाने, कृपाओं का गुणगान करने, पूजा-भाव, आभार व कृतज्ञता प्रदर्शित करने और इस प्रकार परमात्मा की स्तुति करने के लिए एकत्र होते थे। दूसरे कुछ लोग—इसके भी ऐतिहासिक उदाहरण हैं—सम्मिलित रूप से ईश्वर का आवाहन करने के लिए एकत्र होते थे, उदाहरणार्थ, परमेश्वर से कुछ चीज़ माँगने के लिए; और इसे सब एक साथ मिल कर, एक होकर किया करते थे, इस आशा से कि इस आवाहन में, इस प्रार्थना में, इस माँग में अधिक बल होगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ४२

विभिन्न प्रकार की सामूहिक प्रार्थनाएँ

जैसे तरह-तरह की समष्टियाँ होती हैं वैसे ही तरह-तरह की सामूहिक प्रार्थनाएँ भी होती हैं। एक बेनाम जमघट, एक भीड़ होती है जो परिस्थितियों के संयोग से, आन्तरिक सामञ्जस्य के बिना, परिस्थिति की शक्ति के धक्के से बनती है, जैसे, जब कोई राजा या कोई ऐसा व्यक्ति जो जनसमूह का ध्यान आकर्षित करता हो, एक संकटमय अवस्था में हो, चाहे वह बीमार हो या दुर्घटनाग्रस्त, और जनता समाचार जानने और अपनी भावना प्रकट करने के लिए उमड़ी पड़ रही हो, तो परिस्थितियों के संयोग से लोग इकट्ठे होते हैं, अर्थात्, समान रुचि और भावना के सिवाय कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं होता। ऐसा भी उदाहरण मिलता है कि सारी भीड़ उस व्यक्ति के रोगमुक्त होने के लिए प्रार्थना करने बैठ गयी जिससे उन्हें विशेष लगाव था। निस्सन्देह, वही भीड़ बिलकुल भिन्न उद्देश्य से, घृणा के उद्देश्य से इकट्ठी हो सकती है और उसकी चीख-चिल्लाहट भी एक तरह की प्रार्थना होती है, विरोधी और विनाशकारी शक्तियों के प्रति प्रार्थना।

ये सहज गतिविधियाँ होती हैं, न व्यवस्थित, न प्रत्याशित।

ऐसे व्यक्तियों की समष्टि भी होती है जो एक आदर्श या एक शिक्षा या कार्य की चरितार्थता के लिए जमा होते हैं, इनका आपस में व्यवस्थित सम्बन्ध, एक ही लक्ष्य का सम्बन्ध, एक ही श्रद्धा और संकल्प का सम्बन्ध होता है। ये सामूहिक प्रार्थना और ध्यान के अनुष्ठान के लिए विधिवत् जमा हो सकते हैं, यदि उनका लक्ष्य उदात्त है, संगठन सुचारु ढंग से हुआ है, उनका आदर्श प्रबल है, तो यह समष्टि अपनी प्रार्थनाओं या अपने ध्यान द्वारा दुनिया की घटनाओं पर, अपने आन्तरिक विकास पर और अपनी सामूहिक प्रगति पर यथेष्ट प्रभाव डाल सकती है। निश्चय ही ऐसे समूह औरों से बहुत अधिक श्रेष्ठ होते हैं, पर उनमें भीड़ की अन्ध शक्ति, भीड़ की सामूहिक क्रिया नहीं होती। ये इन आवेगों-प्रवेगों को अभिप्रेत और सचेतन व्यवस्था की शक्ति द्वारा बदल देते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ४०१-०२

एकाग्रता तथा शान्ति में
हमें उचित क्रिया करने का साहस जुटाना चाहिये। —श्रीमाँ

प्रार्थना की शक्ति

हमेशा अपनी उच्चतम चेतना में रहो

जीवन-यापन करने की कला—सर्वोत्तम विधि—यह होगी कि हम अपने-आपको हमेशा अपनी उच्चतम चेतना के अन्दर बनाये रखें और इस तरह अपने जीवन और कार्य में अपनी उच्चतम भवितव्यता को ही अन्य भवितव्यताओं के ऊपर प्राधान्य स्थापित करने दें। इस तरह हम कह सकते हैं, और इसमें भूल होने का कोई डर नहीं, कि हमेशा अपनी चेतना के शिखर पर रहो और तब तुम्हारे लिए वही होगा जो अच्छे-से-अच्छा होगा। परन्तु यह एक ऐसी चरम अवस्था है जिसे प्राप्त करना आसान नहीं है। परन्तु, फिर भी, जब तक यह आदर्श अवस्था उपलब्ध न हो, तब तक प्रत्येक व्यक्ति कम-से-कम इतना तो कर ही सकता है कि जब कोई ख़तरा या गम्भीर अवस्था सामने आये तो वह अभीप्सा, प्रार्थना तथा भागवत इच्छा के प्रति विश्वासपूर्ण आत्मदान के द्वारा अपनी उच्चतम भवितव्यता का आवाहन करे। ऐसा करने पर, व्यक्ति का आवाहन जितना सच्चा होता है उसी अनुपात में यह उच्चतम भवितव्यता व्यक्ति की सामान्य भवितव्यता में अनुकूल हस्तक्षेप करती है, और घटना-चक्रों को, जहाँ तक उसका अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध हो, एकदम परिवर्तित कर देती है। इसी तरह की घटनाएँ हमारी बाह्य चेतना को चमत्कार, दिव्य हस्तक्षेप प्रतीत होती हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ८७

प्रार्थनाओं के लिए नियम नहीं बनाये जा सकते

निस्सन्देह, सभी प्रार्थनाओं की सुनवाई नहीं होती—अगर हर एक की प्रार्थना सुनी जाती—भले वह कितनी ही सच्ची क्यों न हो—तो संसार में ऐसा घपला छा जाता कि शायद जीवन दुश्वार हो उठता...। यहाँ तक कि भगवान् के प्रति की गयी प्रार्थना भी हमेशा तुरन्त नहीं सुनी जाती, उसी तरह जैसे श्रद्धा को हमेशा एकदम से मान्यता प्राप्त नहीं होती। प्रार्थना तथा श्रद्धा दोनों ही सिद्धि के पथ पर बढ़ने के लिए वे शक्तियाँ हैं जो मनुष्य को उसके संघर्ष में सहायता के रूप में दी जाती हैं—उनके बिना, यानी, अभीप्सा तथा इच्छा-शक्ति तथा श्रद्धा के बिना (क्योंकि अभीप्सा प्रार्थना ही

है) मनुष्य के लिए कहीं भी पहुँच पाना मुश्किल होता। लेकिन ये सभी चीज़ें 'भागवत शक्ति' को क्रियाशील बनाने के साधन-मात्र हैं—और इससे पहले कि शक्तियाँ क्रियाशील बनें या कम-से-कम यह दिखलायी दे कि वे क्रिया करने लगी हैं या कुछ परिणाम ला रही हैं—इस सबके होने से पहले कभी-कभी व्यक्ति को बहुत, बहुत प्रतीक्षा करनी होती है।

*

रही बात प्रार्थना की, तो इसमें कोई कड़े और कठोर नियम नहीं बनाये जा सकते। कुछ प्रार्थनाओं का उत्तर मिलता है, सबका नहीं। तुम पूछ सकते हो कि भला सभी प्रार्थनाओं का उत्तर क्यों नहीं मिल सकता? लेकिन ऐसा क्यों हो? यह कोई मशीन नहीं है: इस छेद में प्रार्थना डालो और दूसरी तरफ़ उसका जवाब आ जाये। इसके अतिरिक्त, सभी विरोधी चीज़ों के होते हुए भी समस्त मानवजाति अपने-अपने उद्देश्यों के लिए एक ही समय प्रार्थना करती है, और अगर प्रभु को हर एक की प्रार्थना का उत्तर देना पड़े तब तो उनकी बड़ी ही विचित्र दशा हो जायेगी! इससे काम नहीं चलेगा।

*

हाँ, जब तुम संसार में रहते हो तब इस तरह की प्रार्थनाएँ प्रभु को निवेदित कर सकते हो *(जगत् की समस्याओं को सुलझाने हेतु सहायता के लिए प्रार्थना)*; लेकिन तुम्हें यह आशा नहीं रखनी चाहिये कि प्रभु सभी प्रार्थनाओं का उत्तर देंगे और न यही सोचना चाहिये कि उन्हें उनका जवाब देना ही पड़ेगा। जब तुम साधक बन जाते हो तब प्रार्थना आन्तरिक वस्तुओं के लिए की जानी चाहिये जिनका सम्बन्ध साधना से हो, और बाहरी चीज़ों के लिए प्रार्थना, जहाँ तक ज़रूरी हो और जहाँ तक वे भागवत कार्य के लिए आवश्यक हों, करनी चाहिये।

*

प्रार्थना के बारे में तुम जो कह रहे हो वह सही है। वह यह कि (निर्वैयक्तिक प्रार्थना) उच्चतम प्रकार की प्रार्थना होती है, लेकिन दूसरे प्रकार

की (उदाहरण के लिए, अधिक व्यक्तिगत प्रार्थना) भी की जा सकती है, यहाँ तक कि वह वाञ्छनीय भी है, और उसे करना चाहिये। उचित रूप से निवेदित सभी प्रार्थनाएँ हमें भगवान् के अधिक समीप ले आती हैं और 'उनके' साथ उचित सम्बन्ध स्थापित कर देती हैं।

*

जहाँ तक प्रार्थनाओं की बात है, प्रार्थना करने का तथ्य और उससे जो मनोभाव उत्पन्न होता है, विशेष रूप से दूसरों के लिए की गयी निस्स्वार्थ प्रार्थनाएँ, स्वयं तुम्हें उच्चतर 'शक्ति' की ओर खोल देती हैं, भले जिस व्यक्ति के लिए प्रार्थना की गयी हो, उसे प्रार्थना के अनुकूल परिणाम न भी मिले। इस बारे में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परिणाम व्यक्तियों पर निर्भर करता है कि वे उसके प्रति ग्रहणशील हैं या फिर उनके अन्दर की कोई चीज़ उस शक्ति को प्रत्युत्तर दे सकती है जिसे प्रार्थना नीचे उतार लाती है। CWSA खण्ड २९, पृ. ३६६-६७

सच्ची प्रार्थना भाग्य को बदल सकती है

कौन कहता है कि एक पर्याप्त सच्ची अभीप्सा, एक पर्याप्त तीव्र प्रार्थना, उन्मीलन के मार्ग को बदलने में सक्षम नहीं है? इसका अर्थ है कि सब कुछ सम्भव है। तो, तुम्हारे अन्दर काफ़ी अभीप्सा होनी चाहिये और प्रार्थना काफ़ी तीव्र होनी चाहिये। परन्तु यह मानव प्रकृति को सौंपा गया है। यह भागवत कृपा के अद्‌भुत उपहारों में से एक है जो केवल मानव प्रकृति को मिले हैं, लेकिन, मनुष्य उसका उपयोग करना नहीं जानता।

सारी बात यहाँ पहुँचती है कि क्षैतिज दिशा में अधिक-से-अधिक दृढ़ नियति के होते हुए भी, यदि व्यक्ति इन क्षैतिज लकीरों को पार करके चेतना के उच्चतम 'बिन्दु' तक पहुँच सके तो वह उन चीज़ों को बदल सकता है जो बाहरी रूप में पूरी तरह नियत मालूम होती थीं। इसलिए तुम उसे जो नाम देना चाहो दे लो, पर है यह एक प्रकार से निरपेक्ष नियति और निरपेक्ष स्वाधीनता का संयोग। तुम जिस तरह चाहो अपने-आपको उसमें से बाहर खींच सकते हो, पर बात है ऐसी ही।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ९६

शक्तियों का खेल जटिल और सूक्ष्म होता है

ऐसा मालूम होता है कि एक चीज़ बिलकुल निश्चित है : वह बस इस तरह **होने वाली** है। लेकिन तुम्हारे अन्दर एक इच्छा उमड़ती है, एक ज्योति जगती है, एक ऐसी अभीप्सा जिसका उच्चतर 'संकल्प' के साथ सामञ्जस्य है। तुम उसे इस घटना पर लगा देते हो। तब एक प्रकार का संयोग पैदा होता है : जो होने को था वह होगा, लेकिन उसके साथ ही कोई और चीज़ आ जाती है और पहली चीज़ की प्रकृति को बदल देती है। जो घटनाएँ धरती के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, उनमें यह चीज़ बहुधा होती है। उदाहरण के लिए, जब गतिविधियों, परिस्थितियों और शक्तियों के संयोग युद्ध की आवश्यकता को एकदम अनिवार्य बना देते हैं तो उस समय तुम एक और शक्ति का आवाहन करके उसके विस्तार और परिणामों को बदल सकते हो, यहाँ तक कि कभी-कभी तो युद्ध की प्रकृति को भी बदल सकते हो, पर उसे एकदम टाल नहीं सकते। मैं तुम्हें इस प्रकार के बहुत सामान्य प्रकृतिवाले दृष्टान्त दे सकती हूँ।...

मैं जो बात तुम्हें समझाना चाहती हूँ वह यह है कि समस्या बहुत अधिक जटिल और सूक्ष्म है। कभी-कभी गति की दिशा को ज़रा-सा बदला जा सकता है; कभी गति को पलटा जा सकता है; और कभी केवल गति के परिणाम और उसके प्रति आन्तरिक मनोभाव को ही बदला जा सकता है। स्वभावतः लोग इन सब चीज़ों को बहुत ही सीधे, सरल किये हुए रूप में देखते हैं और इस सबको भगवान् के प्रति की गयी अपनी प्रार्थना में अनूदित कर लेते हैं : वे एक मामले में कहते हैं, "मैंने भगवान् से जो माँगा था वह उन्होंने मुझे दे दिया", दूसरे में वे कहते हैं, "उन्होंने मेरी बात अस्वीकार कर दी है।" तो बात ऐसी है। वे इसी तरह समझते हैं और यह निरी मूर्खता है। यह जानने के लिए कि यह कैसे होता है तुम्हारे अन्दर व्यापक, सामूहिक चेतना होनी चाहिये, कम-से-कम पृथ्वी के बराबर विस्तृत। और यह तो कम-से-कम है। सचमुच समझने के लिए तो तुम्हारे अन्दर विश्व-चेतना होनी चाहिये। तब तुम समझ सकते हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २१३-१४

शान्ति तथा सुरक्षा के लिए निष्ठा एक शर्त है। —श्रीमाँ

मैं तुम्हारे साथ हूँ

"मैं तुम्हारे साथ हूँ।" इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

जब हम प्रार्थना करते हैं या किसी समस्या को लेकर अपने अन्दर जूझते हैं, तो क्या हमारे अनाड़ीपन और अपूर्णता के बावजूद, हमारी दुर्भावना और भ्रान्ति के बावजूद हमारी सुनवाई होती है? और कौन सुनता है? आप जो हमारे साथ हैं?

और आप अपनी परम चेतना में, निर्गुण भागवत शक्ति, योग-शक्ति के रूप में या भौतिक चेतना सहित सशरीर माताजी के रूप में? एक व्यक्तिगत उपस्थिति जो वास्तव में प्रत्येक विचार और प्रत्येक क्रिया को जानती है, जो कोई अनाम शक्ति नहीं है? क्या आप हमें यह बतला सकती हैं कि आप हमारे अन्दर कैसे, किस तरह विद्यमान हैं?

कहा जाता है कि आपकी और श्रीअरविन्द की चेतना एक ही है, लेकिन क्या आपकी और श्रीअरविन्द की वैयक्तिक उपस्थिति दो अलग चीज़ें हैं जो अपनी-अपनी विशिष्ट भूमिका निभाती हैं?

मैं तुम्हारे साथ हूँ क्योंकि मैं तुम हूँ या तुम मैं हो।

मैं तुम्हारे साथ हूँ, इसके बहुत सारे अर्थ होते हैं, क्योंकि मैं सभी स्तरों पर, सभी भूमिकाओं में, परम चेतना से लेकर मेरी अत्यन्त भौतिक चेतना तक तुम्हारे साथ हूँ। यहाँ, पॉण्डिचेरी में, तुम मेरी चेतना को अन्दर लिये बिना श्वास भी नहीं ले सकते। वह सूक्ष्म भौतिक में सारे वातावरण को लगभग भौतिक रूप में भरे हुए है, और यहाँ से दस किलोमीटर दूर झील तक ऐसा है। उसके आगे, मेरी चेतना को भौतिक प्राण में अनुभव किया जा सकता है, उसके बाद मानसिक स्तर पर तथा अन्य उच्चतर स्तरों पर हर जगह। जब मैं यहाँ पहली बार आयी थी तो, मैंने भौतिक रूप से दस किलोमीटर नहीं, दस समुद्री मील की दूरी से श्रीअरविन्द के वातावरण का अनुभव किया था। वह एकदम अचानक, बहुत ठोस रूप में, एक शुद्ध, प्रकाशमय, हलका, ऊपर उठाने वाला वातावरण था।

बहुत समय पहले श्रीअरविन्द ने आश्रम में हर जगह यह अनुस्मारक लगवा दिया था जिसे तुम सब जानते हो : "हमेशा ऐसे व्यवहार करो मानों माताजी तुम्हें देख रही हैं, क्योंकि, वास्तव में, वे हमेशा उपस्थित हैं।"

यह केवल एक वचन नहीं है, कुछ शब्द नहीं हैं, यह एक तथ्य है। मैं तुम्हारे साथ बहुत ठोस रूप में हूँ और जिनमें सूक्ष्म दृष्टि है वे मुझे देख सकते हैं।

सामान्य रीति से मेरी 'शक्ति' हर जगह कार्यरत है, वह हमेशा तुम्हारी सत्ता के मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को इधर-उधर हटाती और नये रूप में रखती तथा तुम्हारे सामने तुम्हारी प्रकृति के नये-नये रूपों को निरूपित करती रहती है ताकि तुम देख सको कि क्या-क्या बदलना, विकसित करना या त्यागना है।

इसके अलावा, मेरे और तुम्हारे बीच एक विशेष सम्बन्ध है, उन सबके साथ जो मेरी और श्रीअरविन्द की शिक्षा की ओर मुड़े हुए हैं— और, यह भली-भाँति जानी हुई बात है कि इसमें दूरी से कोई अन्तर नहीं पड़ता, तुम फ़्रांस में हो सकते हो, दुनिया के दूसरे छोर पर हो सकते हो या पॉण्डिचेरी में, यह सम्बन्ध हमेशा सच्चा और जीवन्त रहता है। और हर बार जब पुकार आती है, हर बार जब इसकी ज़रूरत हो कि मुझे पता लगे ताकि मैं एक शक्ति, एक प्रेरणा या रक्षण या कोई और चीज़ भेजूँ तो अचानक मेरे पास एक सन्देश-सा आता है और मैं जो ज़रूरी होता है वह कर देती हूँ। यह तो स्पष्ट है कि ये सन्देश मेरे पास किसी भी समय पहुँचते रहते हैं, और तुमने कई बार मुझे अचानक किसी वाक्य या काम के बीच रुकते देखा होगा; यह इसलिए कि कोई चीज़ मेरे पास आती है, कोई सन्देश आता है और मैं एकाग्र हो जाती हूँ।

और अगर किसी कारण से तुम मुझे चिट्ठी लिखो और मेरी सहायता माँगो और मैं उत्तर दूँ "मैं तुम्हारे साथ हूँ", तो इसका मतलब यह है कि तुम्हारे साथ की सञ्चार-व्यवस्था सक्रिय हो गयी है, तुम कुछ समय के लिए, जितने समय के लिए ज़रूरी हो, मेरी सक्रिय चेतना में आ जाते हो।

और मेरे और तुम्हारे बीच का यह सम्बन्ध कभी नहीं टूटता। ऐसे लोग हैं जिन्होंने विद्रोह की अवस्था में बहुत पहले आश्रम छोड़ दिया था, और फिर भी मैं उनके बारे में टोह लेती रहती हूँ, उनकी देखभाल करती हूँ। तुम्हें कभी ऐसे ही छोड़ नहीं दिया जाता।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ७५-७७

प्रार्थना तथा आध्यात्मिक जीवन

प्रार्थना तथा अभीप्सा आध्यात्मिक जीवन के अंग हैं

प्रार्थना तथा अभीप्सा आध्यात्मिक जीवन के अंग हैं और समर्पण के साथ इनका विरोध नहीं है, बशर्ते कि व्यक्ति प्रार्थना की स्वीकृति या अस्वीकृति दोनों ही अवस्थाओं में विक्षुब्ध न हो तथा अपनी श्रद्धा और स्थिरता वैसे ही बनाये रखे। साधारण जीवन में प्रार्थना भगवान् के साथ मानवीय सम्बन्ध के मुख्य तत्त्वों में से एक है और प्रायः, किन्तु हमेशा नहीं, इसका उत्तर दिया जाता है; जब इसका उत्तर नहीं दिया जाता तब भी धार्मिक व्यक्ति भगवान् में अपनी श्रद्धा बनाये रखता है और या तो यह समझता है कि उत्तर देना भागवत संकल्प नहीं था अथवा जब तक उसकी प्रार्थना सुनी नहीं जाती तब तक वह अधिक भावप्रवण होकर प्रार्थना करता रहता है—यह व्यक्ति और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। एक साधक दूसरों के लिए उनके मामलों में मध्यस्थ का काम कर सकता है, बशर्ते कि वह अनासक्त और समचित्त बना रहे, परन्तु वह हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य नहीं है। CWSA खण्ड २९, पृ. ३६५-६६

प्रार्थनाएँ तथा स्तोत्र

भगवान् की सिद्धि के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन है प्रार्थना तथा स्तोत्र का माध्यम। परन्तु यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयुक्त नहीं है। जो व्यक्ति ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करता है वह ध्यान और एकाग्रता का अभ्यास करता है। कर्म करने वाले के लिए कर्म का समर्पण सर्वोत्तम मार्ग है। प्रार्थना तथा स्तोत्र भक्ति का एक अंग निर्मित करते हैं, फिर भी यह उच्चतम अंग नहीं है; क्योंकि बिना शर्त प्रेम भक्ति की उच्चतम पूर्णता है। वह प्रेम स्तोत्रों तथा प्रार्थनाओं के माध्यम से भगवान् के सच्चे स्वरूप को सिद्ध कर सकता है और तब, उनकी आवश्यकता का अतिक्रमण कर अपने-आपको भगवान् के आत्मानन्द में विलीन कर देता है। और फिर भी विरला ही कोई भक्त होगा जिसकी भक्ति में स्तोत्रों तथा प्रार्थनाओं का कोई स्थान न हो। जब प्रक्रिया तथा अभ्यास (साधना) की आवश्यकता न भी हो तब भी हृदय स्तोत्रों तथा प्रार्थनाओं के रूप में उमड़ पड़ता है। केवल व्यक्ति को

यह स्मरण रखना चाहिये कि मार्ग वस्तुपरक नहीं है तथा मेरा मार्ग दूसरे का मार्ग नहीं भी हो सकता है। भक्ति-मार्ग के बहुत लोगों की यह धारणा है कि जो व्यक्ति स्तोत्रों तथा प्रार्थनाओं की मदद नहीं लेता, उनमें आनन्द की अनुभूति नहीं करता, तब वह आध्यात्मिक व्यक्ति (सत्य के विधान का पालन करने वाला) नहीं है। यह भूल और संकीर्णता की पहचान है। बुद्ध ने स्तोत्रों तथा प्रार्थनाओं के मार्ग का अनुसरण नहीं किया, परन्तु कौन कह सकता है कि बुद्ध आध्यात्मिक नहीं थे? स्तोत्रों तथा प्रार्थनाओं का विकास भक्ति-मार्ग की साधना के लिए हुआ है।

—श्रीअरविन्द की 'बंगला रचनाओं' से, पृ. १८६

भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का साधन

प्रार्थना हमारे लिए सबसे पहले निम्न स्तर पर इस सम्बन्ध को तैयार करने में मदद करती है जब कि यह सम्बन्ध पहले से ही काफ़ी मात्रा में मात्र अहंभाव तथा आत्ममोह के साथ वहाँ होता है; किन्तु बाद में हम उस आध्यात्मिक सत्य की ओर बढ़ सकते हैं जो इसके पीछे है। तब माँगी हुई चीज़ की प्राप्ति महत्त्व नहीं रखती बल्कि सम्बन्ध, मानव जीवन का भगवान् के साथ सम्पर्क, सचेतन आदान-प्रदान अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता है। आध्यात्मिक बातों में और आध्यात्मिक उपलब्धियों की खोज में यह सचेतन सम्बन्ध एक बहुत बड़ी शक्ति है। यह हमारे अपने पूर्णतः आत्म-निर्भर संघर्ष तथा प्रयास की अपेक्षा एक अधिक महान् शक्ति है और यह एक पूर्णतर आध्यात्मिक संवर्धन तथा अनुभूति लाती है। अन्त में आवश्यक रूप से प्रार्थना या तो एक महानतर चीज़ में निवर्तित हो जाती है जिसके लिए इसने हमें तैयार किया—वास्तव में वह रूप जिसे हम प्रार्थना कहते हैं अपने-आपमें तब तक अनिवार्य नहीं है जब तक श्रद्धा, संकल्प, अभीप्सा मौजूद हैं—अथवा वह केवल सम्बन्ध के आनन्द के लिए बना रहता है। इसके उद्देश्य भी, अर्थ या अभिरुचि जो यह सिद्ध करना चाहती है, उच्च से उच्चतर होते जाते हैं जब तक कि हम उच्चतम निष्काम भक्ति, यानी शुद्ध और सरल, बिना किसी माँग या कामना के, दिव्य प्रेम तक नहीं पहुँच जाते।

CWSA खण्ड २४, पृ. ५६७-६८

भगवान् के साथ सम्बन्धों का स्वरूप

भगवान् के प्रति जो सम्बन्ध बनते हैं वे हैं, बालक के साथ भागवत पिता और भगवती माता का तथा भागवत मित्र का सम्बन्ध। भगवान् के पास मानव आत्मा आती है मदद, सुरक्षा, मार्गदर्शन तथा सफलता के लिए —अथवा यदि ज्ञान प्राप्त करना लक्ष्य हो तब वह आती है मार्गदर्शक के पास, शिक्षक के पास, प्रकाशदाता के पास, क्योंकि भगवान् ज्ञान के सूर्य हैं—अथवा यह आती है पीड़ा में और दुःख में राहत के लिए, सान्त्वना के लिए, उद्धार के लिए, यह उद्धार स्वयं दुःख से भी हो सकता है या सांसारिक अस्तित्व से, जो दुःख का आवास है, अथवा इसके आन्तरिक और वास्तविक कारणों से।[१] इन चीज़ों में हम एक प्रकार की क्रमबद्धता पाते हैं। पिता का सम्बन्ध हमेशा उतना घनिष्ठ, तीव्र, आवेगपूर्ण, आन्तरिक नहीं होता और इसीलिए योग में, जो घनिष्ठतम ऐक्य की माँग करता है—इसका आश्रय नहीं लिया जाता। भागवत मित्र का सम्बन्ध मधुरतर और घनिष्ठतर है जो असमानता में भी एक समानता तथा अन्तरंगता को तथा पारस्परिक आत्मदान को स्वीकार करता है। इसका घनिष्ठतम रूप तब देखा जाता है जब अन्य आदान-प्रदान का समस्त विचार विलीन हो जाता है, जब यह सम्बन्ध एकमात्र सर्वसम्पन्न प्रेम के संवेग को छोड़ कर निष्काम बन जाता है, और संसार की लीला में एक मुक्त तथा हमजोली के सुखद सम्बन्ध में बदल जाता है। परन्तु इससे भी घनिष्ठतर और अधिक अन्तरंग सम्बन्ध है माता और शिशु का, और इसलिए जहाँ-जहाँ धार्मिक आवेग अत्यन्त उत्कट है और मानव हृदय से अधिक ऊष्मा के साथ उमड़ता है—इसकी भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। आत्मा अपनी समस्त कामनाओं तथा कठिनाइयों में धातृ-आत्मा (Mother-Soul) के पास जाती है तथा दिव्य जननी चाहती हैं कि ऐसा ही होना चाहिये जिससे वे अपना प्रेम का हृदय उँडेल सकें। यह आत्मा इस कारण से भी उनकी ओर मुड़ती है क्योंकि इस प्रेम की प्रकृति स्वयम्भू होती है और यह हमें उस घर की ओर संकेत करती है जहाँ संसार में भटकने के बाद हम लौट जाते हैं और उनके हृदय में विश्राम पाते हैं। CWSA खण्ड २४, पृ. ५६८

[१] गीता के अनुसार भक्तों के चार वर्गों में से तीन हैं: आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु—दुःखी, व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति का आकांक्षी तथा भागवत ज्ञान का पिपासु।

उच्चतम तथा महानतम सम्बन्ध

उच्चतम तथा महानतम सम्बन्ध वह है जो किन्हीं भी सामान्य धार्मिक प्रेरणाओं से आरम्भ नहीं होता, जो बल्कि योग का सारतत्त्व ही है और स्वयं प्रेम की प्रकृति से ही प्रस्फुटित होता है। यह है प्रेमी और प्रेमिका का आवेग। जहाँ-जहाँ भी आत्मा की भगवान् के साथ चरम एकता की आकांक्षा होती है वहाँ-वहाँ भगवान् के लिए ललक का यह रूप अपना मार्ग बना लेता है, यहाँ तक कि उन धर्मों में भी जो इसके बिना भी चल रहे हैं और अपनी व्यवस्था में इसे कोई स्थान नहीं देते। यहाँ जिस एक चीज़ की माँग की जाती है वह है प्रेम, और जिस चीज़ का भय रहता है वह है प्रेम का ह्रास, एकमात्र शोक है वियोग का शोक; क्योंकि अन्य चीज़ें या तो प्रेमी के लिए कोई अस्तित्व नहीं रखतीं अथवा वे मात्र प्रासंगिक होती हैं या परिणाम होती हैं, प्रेम के उद्देश्य अथवा शर्तें नहीं होतीं। वास्तव में समस्त प्रेम अपनी प्रकृति में स्वयम्भू होता है क्योंकि यह सत्ता में एक गुह्य एकता से और उस एकता या हृदय में एकता की कामना से उन आत्माओं के बीच प्रस्फुटित होता है जो अभी तक अपने को एक दूसरे से भिन्न तथा विभक्त समझती हैं। इसलिए ये सभी अन्य सम्बन्ध भी केवल प्रेम के लिए अपने स्वयम्भू आनन्द तक पहुँच सकते हैं। परन्तु फिर भी वे आरम्भ से अन्त तक अन्य प्रयोजनों में भी कुछ हद तक अपनी क्रीड़ा की सन्तुष्टि अनुभव करते हैं। किन्तु यहाँ आरम्भ प्रेम है और अन्त भी प्रेम है तथा समस्त लक्ष्य प्रेम है। यह सच है कि अधिकृत करने की कामना होती है किन्तु यह भी स्वयम्भू प्रेम की पूर्णता में विजित कर ली जाती है तथा भक्त की अन्तिम माँग मात्र यह होती है कि उसकी भक्ति न कभी समाप्त हो, न कभी उसमें कमी ही आये। वह स्वर्ग की माँग नहीं करता, न जन्म से मुक्ति चाहता है, न किसी अन्य वस्तु की माँग करता है, बल्कि केवल यही चाहता है कि उसका प्रेम शाश्वत और चरम बना रहे।

CWSA खण्ड २४, पृ. ५६९

कामना-पूर्ति वाले स्थान

फ़्रांस के सबसे सुन्दर गिरजाघरों में से एक में, एक ऐसा गिरजाघर जो कला की दृष्टि से सचमुच इतना भव्य है कि शानदार कल्पना की सीमा

तक जा पहुँचता है, उसके सबसे पवित्र स्थान में मैंने एक **दीर्घाकार**, काली प्राणिक मकड़ी देखी। उसने अपना जाल बना कर सब जगह फैला रखा था। उसमें वह लोगों की भक्ति से, उनकी प्रार्थनाओं आदि से निःसृत शक्तियों को पकड़ कर आत्मसात् कर लेती थी। वह कोई सुखद दृश्य नहीं था; जो लोग वहाँ थे और प्रार्थना कर रहे थे वे एक दिव्य स्पर्श का अनुभव कर रहे थे, उन्हें अपनी प्रार्थनाओं के फलस्वरूप नाना प्रकार के वरदान मिल रहे थे। और फिर भी वहाँ जो चीज़ थी वह यही, यही थी। लेकिन लोगों में अपनी श्रद्धा थी, वह श्रद्धा जो उनके अन्दर इस बुरी चीज़ को अच्छी में बदल सकती थी, उनमें अपनी श्रद्धा थी। इसलिए, सचमुच, अगर मैं वहाँ गयी होती और उनसे कहती : "तुम समझते हो कि तुम भगवान् से प्रार्थना कर रहे हो? एक बड़ी प्राणिक मकड़ी तुम्हारी सारी शक्तियों से परिपुष्ट हो रही है!" तो यह बहुत हितकर बात न होती। और अधिकतर, प्रायः सभी जगह यही होता है। वहाँ एक प्राण- शक्ति रहती है, क्योंकि ये प्राणिक सत्ताएँ मानव भावनाओं के स्पन्दनों से पलती हैं। ऐसे बहुत कम लोग हैं, बहुत ही कम, उनकी संख्या न के बराबर है, जो सच्ची धार्मिक भावना के साथ गिरजाघर या मन्दिर जाते हैं, यानी, किसी चीज़ के लिए प्रार्थना करने या भगवान् से कुछ माँगने के लिए नहीं, बल्कि अपने-आपको समर्पित करने के लिए, कृतज्ञता प्रकट करने के लिए, अभीप्सा और आत्म-समर्पण करने के लिए जाते हैं। ऐसा करने वाला मुश्किल से लाखों में एक होता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २२२-२३

बाहरी अथवा आन्तरिक वस्तुओं के लिए प्रार्थना करना

आप कहते हैं, "जब व्यक्ति साधक है तब प्रार्थना साधना से सम्बन्धित आन्तरिक वस्तुओं के लिए होनी चाहिये और बाह्य वस्तुओं के लिए केवल तभी प्रार्थना करनी चाहिये जब वह साधना तथा भागवत कार्य के लिए आवश्यक हो।" बाहरी वस्तुओं के लिए प्रार्थना के बारे में परवर्ती अंश मुझे स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आया। क्या कृपया आप स्पष्ट करेंगे?

यह इस बात पर निर्भर करता है कि क्या व्यक्ति बाहरी वस्तुएँ अपनी सुविधा, सुख, लाभ आदि के लिए चाहता है या आध्यात्मिक जीवन के

एक अंश के रूप में जो कार्य की सफलता के लिए, यन्त्रों के विकास तथा उपयुक्तता आदि के लिए आवश्यक हो। यह मुख्य रूप से आन्तरिक मनोवृत्ति का प्रश्न है। यदि, उदाहरण के लिए, स्वाद की तुष्टि के लिए अच्छे-अच्छे पकवान ख़रीदने हेतु पैसे के लिए तुम प्रार्थना करते हो, तब यह साधक के लिए उचित प्रार्थना नहीं है। यदि तुम श्रीमाँ को देने और उनके कार्य में सहायता करने के लिए धन के लिए प्रार्थना करते हो तब यह उचित है।

CWSA खण्ड ३२, पृ. ३१४-१५

मन को बीच में मत आने दो

मन रूप देने का और व्यवस्था करने का यन्त्र है, और अगर मन चैत्य को अपना उपयोग करने दे तो बहुत अच्छा होगा। लेकिन मन चैत्य को अभिव्यक्त होने में सहायता नहीं देगा। भूमिकाएँ उलटी हैं। बाद में चल कर जब चैत्य सत्ता बाह्य चेतना पर अधिकार पा चुकेगी तो मन चैत्य की अभिव्यक्ति का एक यन्त्र बन सकेगा। इसका पहले होना बहुत ही विरल है। साधारणतः, वह एक परदा और रुकावट होता है। लेकिन, निश्चय ही, वह अभिव्यक्ति में सहायक नहीं हो सकता। अगर वह सच्चा स्थान और सच्ची गतिविधि अपनाये तो क्रिया में सहायक हो सकता है। और अगर वह चैत्य प्रेरणा के प्रति बिलकुल विनीत बन जाये, तो वह जीवन को व्यवस्थित करने में सहायक हो सकता है, क्योंकि यही उसका काम है, यही उसका उद्देश्य है। लेकिन पहले ज़रूरत इस बात की है कि चैत्य सत्ता क्षेत्र पर अधिकार कर ले, कि वह गृहस्वामी बन जाये। तब, उसके बाद, चीज़ें व्यवस्थित हो सकती हैं।

बाह्य सत्ता के लिए केवल एक ही तरीक़ा है। हम भौतिक सत्ता को लें—भौतिक सत्ता, बेचारी, छोटी-सी भौतिक सत्ता, बाह्य सत्ता, जो कुछ नहीं जानती, जो अपने-आप कुछ नहीं कर सकती। उसके लिए चैत्य सत्ता को अपने अन्दर अभिव्यक्त करने देने का बस, एक ही तरीक़ा है : एक बच्चे की सरल ऊष्मा के साथ *(माताजी बहुत धीमे बोलती हैं)* अभीप्सा करना, प्रार्थना करना, माँगना, अपनी सारी शक्ति के साथ चाहना, बिना तर्क किये, बिना समझने का प्रयास किये, चाहना। तुम कल्पना नहीं कर

सकते कि तर्क और समझने का यह प्रयास अनुभूति में कितने बाधक होते हैं। जिस क्षण तुम निश्चित रूप से ऐसी स्थिति पाने-पाने को हो जहाँ कुछ होने वाला है, सत्ता की चेतना में कुछ स्पन्दन बदलेंगे... तुम एक अभीप्सा में पूरी तरह उठे हुए हो और तुम अपनी अभीप्सा को संलग्न करने में सफल हो गये हो, और तुम उत्तर की प्रतीक्षा में आतुर खड़े हो, उस समय अगर यह कम्बख़्त मन अस्थिर हो उठे और पूछे : "यह क्या हो रहा है, क्या होने वाला है, वह कब होगा, वह कैसे होगा, और ऐसा क्यों है, और चीज़ें किस क्रम में अभिव्यक्त होंगी?" तो बस, ख़तम। तुम उठ कर अपने कमरे में झाड़ू लगा सकते हो, तुम किसी और चीज़ के लायक नहीं हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ४४-४५

अपनी कृतज्ञता दर्शाने का सबसे बढ़िया रास्ता

अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए जो अच्छी-से-अच्छी चीज़ हम कर सकते हैं वह है, अपने अन्दर के समस्त अहंकार पर विजय पाना और इस रूपान्तर के लिए सतत प्रयास करना। मानव अहं इस कारण अपदस्थ होने से इन्कार करता है कि और लोग रूपान्तरित नहीं हुए हैं। लेकिन वही दुर्भावना का गढ़ है, क्योंकि हर एक का कर्तव्य है कि और लोग क्या करते हैं उसकी परवाह किये बिना अपने-आपको रूपान्तरित करना।

अगर लोग जानें कि यह रूपान्तर, अहंकार का लोप ही सतत शान्ति और आनन्द का एकमात्र मार्ग है तो वे आवश्यक प्रयास करने के लिए तैयार हो जायेंगे। अतः, उनके अन्दर यह विश्वास जगाना चाहिये।

हर एक से बार-बार कहना चाहिये : अपने अहंकार को लुप्त कर दो तो तुम्हारे अन्दर शान्ति का राज्य होगा।

भगवान् की सहायता हमेशा सच्ची अभीप्सा को उत्तर देती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४७९

प्रश्न : मैं चैत्य चेतना को कैसे पा सकता हूँ?

उत्तर : अभीप्सा, प्रार्थना और एकाग्रता द्वारा।

साधना-सूत्र

केन्द्रीय श्रद्धा की आवश्यकता

मैंने एक प्रबल केन्द्रीय और, सम्भव हो तो, पूर्ण श्रद्धा की बात कही थी, क्योंकि तुम्हारा मनोभाव मुझे ऐसा प्रतीत हुआ था कि तुम केवल पूर्ण प्रत्युत्तर की परवाह करते हो—अर्थात् उपलब्धि की, उपस्थिति की परवाह करते हो और अन्य सभी चीज़ों को एकदम असन्तोषजनक मानते हो—और तुम्हारी प्रार्थना तुम्हें वह चीज़ नहीं उपलब्ध करा रही है। परन्तु साधारणतया प्रार्थना स्वयं अपने-आपमें तुरन्त वह चीज़ नहीं उपलब्ध कराती—केवल तभी कराती है जब केन्द्र में ज्वलन्त श्रद्धा या सत्ता के सभी भागों में पूर्ण श्रद्धा होती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जिन लोगों की श्रद्धा उतनी प्रबल अथवा समर्पण पूर्ण नहीं है, वे लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकते, बल्कि साधारण तौर पर उन्हें तब तक पहले धीमे पग से चलना होता तथा अपनी प्रकृति की कठिनाइयों का सामना करना होता है जब तक कि अध्यवसाय या तपस्या के द्वारा उनके अन्दर पर्याप्त उद्घाटन नहीं हो जाता। डगमगाने वाली श्रद्धा तथा धीमे और आंशिक समर्पण में भी कुछ शक्ति होती है और उनका भी फल होता है, अन्यथा एकमात्र कुछ बिरले लोग ही साधना करने में समर्थ होते। केन्द्रीय श्रद्धा से मेरा मतलब है वह श्रद्धा जो पीछे की ओर विद्यमान अन्तरात्मा अथवा केन्द्रीय पुरुष में हो, वह श्रद्धा जो उस समय भी बनी रहती है जब कि मन सन्देह करता, प्राण निराश हो जाता तथा शरीर गिर जाना चाहता है, और जो आक्रमण के समाप्त हो जाने पर पुनः प्रकट होती और फिर से पथ पर चलने की प्रेरणा देती है। यह प्रबल और प्रदीप्त हो सकती है, यह निष्प्रभ और देखने में दुर्बल हो सकती है, पर यह यदि सारे समय आगे चलते रहने का आग्रह करती है तो यही यथार्थ वस्तु है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ९५-९६

इस योग का सम्पूर्ण सिद्धान्त

स्वयं को 'भागवत प्रभाव' के प्रति खोलना ही इस योग का सम्पूर्ण सिद्धान्त है। वह प्रभाव तुम्हारे ऊपर ही है और एक बार तुम उसके प्रति सचेतन बन

जाओ तो तुम्हें उसे अपने अन्दर उतारने के लिए बस उसका आह्वान करना होगा। वह मन तथा शरीर में 'शान्ति' के रूप में, 'प्रकाश' के रूप में, कार्य करने वाली 'शक्ति' के रूप में, साकार या निराकार भागवत 'उपस्थिति' के रूप में, 'आनन्द' के रूप में उतरता है। इस चेतना को पाने से पहले व्यक्ति के अन्दर श्रद्धा तथा उद्घाटन के लिए अभीप्सा होनी चाहिये। श्रद्धा, पुकार, प्रार्थना सभी एक और समान वस्तुएँ हैं और सभी प्रभावकारी होती हैं; इनमें से जो तुम्हारे पास आये या जो तुम्हें सबसे सुगम लगे, तुम उसे अपना सकते हो। दूसरा तरीक़ा है एकाग्रता का; तुम अपनी चेतना को हृदय पर एकाग्र करो (कुछ सिर में या सिर के ऊपर करते हैं) और हृदय में श्रीमाँ पर ध्यान लगाओ या वहाँ प्रतिष्ठित होने के लिए उनका आवाहन करो। तुम दोनों में से कोई भी विधि अपना सकते हो या अलग-अलग समय पर कभी एक, कभी दूसरी का प्रयोग कर सकते हो—जो सहज रूप से तुम्हारे पास आये या जिसे करने के लिए तुम उस समय प्रेरित होओ। विशेष रूप से, आरम्भ में, सबसे बड़ी आवश्यकता होती है, मन को शान्त बनाने की, ध्यान के समय उन सभी विचारों और गतियों को अस्वीकार करने की जो साधना के लिए विजातीय हों। शान्त मन में अनुभूति को पाने के लिए प्रगतिशील तैयारी होती रहेगी। लेकिन अगर सब कुछ एक साथ न हो तो तुम्हें कभी भी अधीर नहीं होना चाहिये; मन में पूर्ण शान्ति लाने में समय लगता है; तुम्हें तब तक प्रयास करते रहना होगा जब तक कि चेतना तैयार नहीं हो जाती।

CWSA खण्ड २९, पृ. १०६

श्रद्धा बनाये रखो, परिणाम आकर रहेगा

इस योग में सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि क्या व्यक्ति प्रभाव के प्रति खुल सकता है या नहीं। अगर सभी बाधाओं के बावजूद उसकी अभीप्सा में सच्चाई हो और उच्चतर चेतना तक पहुँचने के लिए धीरज से लैस इच्छा हो तब किसी न किसी रूप में उद्घाटन होकर रहेगा। लेकिन मन, हृदय तथा शरीर की प्रस्तुत या अप्रस्तुत अवस्था के अनुसार कम या अधिक समय लग सकता है; इसलिए अगर व्यक्ति के अन्दर आवश्यक धीरज न हो तो बाधा का सामना न कर पाने के कारण व्यक्ति आरम्भ में ही प्रयास करना छोड़ सकता है। इस योग में इसके अतिरिक्त और

कोई पद्धति नहीं है कि साधक अपनी चेतना को एकाग्र करे, विशेषकर हृदय में, और माताजी की उपस्थिति और शक्ति का आवाहन करे कि वे उसकी सत्ता को अपने हाथ में ले लें और अपनी शक्ति की क्रियाओं के द्वारा उसकी चेतना को रूपान्तरित करें। कोई चाहे तो अपने मस्तक में या भृकुटि के बीच भी चेतना को एकाग्र कर सकता है, परन्तु अधिकतर लोगों के लिए इस तरह आत्मोद्घाटन करना अत्यन्त कठिन होता है। जब मन शान्त-स्थिर हो जाता है और एकाग्रता दृढ़ तथा अभीप्सा तीव्र हो जाती है तब अनुभूति का होना आरम्भ हो जाता है। श्रद्धा जितनी अधिक होती है उतनी ही शीघ्रता से परिणाम भी प्राप्त होने की सम्भावना हो जाती है। बाक़ी चीज़ों के लिए साधक को केवल अपने ही प्रयास पर नहीं निर्भर करना चाहिये, बल्कि भगवान् के साथ सम्पर्क स्थापित करने तथा माताजी की 'शक्ति' और 'उपस्थिति' को ग्रहण करने में सफल होना चाहिये।
CWSA खण्ड २९, पृ. १०७

आन्तरिक एकाग्रता की साधना

आन्तरिक एकाग्रता की साधना में ये तीन चीज़ें होती हैं :

१. हृदय में चेतना को प्रतिष्ठित करके किसी विचार, रूप या भागवत जननी पर एकाग्रचित्त होना—जिस पर भी तुम एकदम आसानी से दत्तचित्त हो सको।

२. हृदय में एकाग्र होकर मन को धीरे-धीरे, क्रमिक रूप में शान्त करना।

३. हृदय में माँ की उपस्थिति के लिए और उन्हीं के द्वारा मन, जीवन और क्रिया को नियन्त्रण में लाने की अभीप्सा करना।
CWSA खण्ड २९, पृ. २२५

दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्घाटन

यह स्पष्ट हो जायेगा कि यहाँ दो सर्वथा महत्त्वपूर्ण चीज़ें हैं, हृत्केन्द्र का उद्घाटन तथा मन के केन्द्रों का उद्घाटन उन सबकी ओर जो उनके पीछे और ऊपर हैं। क्योंकि हृदय चैत्य पुरुष की ओर खुलता है तथा मन के केन्द्र उच्चतर चेतना की ओर खुलते हैं तथा चैत्य पुरुष और

उच्चतर चेतना के बीच सन्धि सिद्धि का प्रधान साधन है। प्रथम उद्घाटन आता है हृदय में एकाग्रता के द्वारा, हम सबके अन्दर अभिव्यक्त होने के लिए तथा चैत्य के माध्यम से सम्पूर्ण प्रकृति को ग्रहण करने तथा उसका मार्गदर्शन करने के लिए प्रभु के प्रति एक पुकार के द्वारा। साधना के इस भाग के लिए मुख्य अवलम्ब हैं, अभीप्सा, प्रार्थना, भक्ति, प्रेम तथा समर्पण। इसके साथ ही साथ होना चाहिये उन सबकी अस्वीकृति जो हमारी अभीप्सा के मार्ग में बाधक हैं। दूसरा उद्घाटन आता है मस्तिष्क में एकाग्रता के द्वारा (बाद में, इसके ऊपर) और सत्ता में भागवत 'शान्ति', 'शक्ति', 'ज्योति', 'ज्ञान' तथा 'आनन्द' के अवतरण के लिए अभीप्सा, पुकार तथा दीर्घकालिक संकल्प के द्वारा—प्रथम शान्ति अथवा शान्ति और शक्ति एक साथ।
CWSA खण्ड ३०, पृ. ३२७-२८

भक्ति और प्रेम चैत्य गति के भाग हैं

भक्ति और प्रेम चैत्य गति के भाग हैं, एक बहुत बड़े भाग। जब तुम चैत्य परिवर्तन के लिए अभीप्सा करते हो तब तुम भक्ति तथा प्रेम के लिए अभीप्सा करते हो। परन्तु वैष्णव साधना के समान अपनी अभीप्सा को एक ही गतिविधि के द्वारा सीमित कर देना उपयोगी नहीं है; क्योंकि यह योग अधिक पर्याप्त है तथा वैष्णव साधना के सारतत्त्व को समाविष्ट करता है, किन्तु यह इससे सीमित नहीं है। कोई बात नहीं यदि तुम भौतिक वृन्दावन का भ्रमण करते हो कि नहीं, पर आवश्यक है प्रेम और भक्ति के द्वारा आन्तरिक संयोग की प्राप्ति।
CWSA खण्ड ३०, पृ. ३६२

बिलकुल, 'भागवत कृपा' कर्म को एकदम उलट देती है। यूँ समझो वह उसे धूप में रखे मक्खन की तरह पिघला देती है।...

अगर तुम्हारे अन्दर काफ़ी सच्ची अभीप्सा है या काफ़ी तीव्र प्रार्थना है तो तुम अपने अन्दर किसी 'ऐसी चीज़' को उतार कर ला सकते हो जो सब कुछ बदल सकती है, सब कुछ—सचमुच वह सब कुछ बदल सकती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ९९

हम पथ से कभी न डिगें

बस, एक ही चीज़ करने-लायक है, हृदय से भागवत हस्तक्षेप के लिए प्रार्थना करो, क्योंकि वही एक चीज़ है जो हमारी रक्षा कर सकती है। वे सब जो इस विषय में सचेतन हो सकते हैं उन्हें बहुत दृढ़ता के साथ निश्चय करना चाहिये कि वे केवल 'सत्य' पर ही डटे रहेंगे और केवल 'सच्चाई' से ही काम करेंगे। **कोई समझौता नहीं होना चाहिये**। यह बहुत आवश्यक है। यही एकमात्र मार्ग है।

चीज़ें भले भटकती या हमारे लिए बुरी होती दिखायी दें, वस्तुतः जैसा कि इस समय फैले हुए मिथ्यात्व के कारण होगा—हम 'सत्य' के लिए डटे रहने के अपने निश्चय से न डिगें।

यही एकमात्र रास्ता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ४०६

हमेशा प्रयत्न करते रहो

प्रयत्न तो तुम्हें सदा करते ही रहना चाहिये, किन्तु तुम्हारे प्रयत्न का फल देना या न देना भगवान् का काम है। यहाँ पर तुम्हारी अपनी ताक़त ख़त्म हो जाती है, यदि कोई परिणाम आता है तो उसे तुम्हारी अपनी शक्ति नहीं, बल्कि 'भागवत शक्ति' लाती है। तुम पूछते हो कि भगवान् से इन चीज़ों को माँगना उचित है या नहीं। यदि किसी नैतिक दोष को दूर करने के लिए भगवान् से प्रार्थना करने में कोई हर्ज़ नहीं है, तो किसी भौतिक अपूर्णता को दूर करने के लिए भगवान् की ओर मुड़ने में क्या हर्ज़ है? परन्तु तुम जो कुछ माँगो, तुम्हारा जो कुछ भी प्रयास हो, उस समय भी जब तुम ज्ञान या शक्ति का प्रयोग करते हुए भरपूर प्रयास कर रहे होते हो, तुम्हें सदा यह अनुभव करना चाहिये कि परिणाम भगवान् की 'कृपा' पर निर्भर होता है। एक बार यदि तुमने इस योग को स्वीकार कर लिया है तो फिर तुम्हारे सभी काम पूर्ण आत्म-समर्पण के भाव से होने चाहियें। तुम्हारा भाव यह होना चाहिये : "मैं अभीप्सा करता हूँ, मैं अपनी अपूर्णताओं को दूर करने की कोशिश करता हूँ, मैं यथासम्भव सब करता हूँ, किन्तु फल के लिए मैं अपने-आपको सम्पूर्ण रूप से भगवान् के हाथों में सौंपता हूँ।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १०९-१०

'कृपा' अनन्त है

जब तुम एक विशेष प्रकार की परिस्थितियों के बीच होते हो और कुछ घटनाएँ घटती हैं तो बहुधा ये घटनाएँ तुम्हारी इच्छा का या जो कुछ तुम्हें सर्वोत्तम प्रतीत होता है उसका प्रतिरोध करती हैं, और बहुधा तुम इसके लिए दुःखी होते हो और छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं के लिए कहते हो: "आह! यदि यह दूसरी तरह हुआ होता, ऐसा या वैसा हुआ होता तो कितना अच्छा होता"...। उसके बाद वर्ष-पर-वर्ष निकल जाते हैं, घटनाओं-पर-घटनाएँ होती हैं; तुम प्रगति करते हो, अधिक सचेतन बन जाते हो, पहले से ज़्यादा अच्छा समझने लगते हो, और जब तुम पीछे की ओर निहारते हो, तुम देखते हो—पहले तो अचम्भे के साथ, फिर बाद में एक मुस्कान के साथ—कि जो परिस्थितियाँ तुम्हें बिलकुल अनर्थकारी और प्रतिकूल प्रतीत हुई थीं वे ही ठीक-ठीक वे सर्वोत्तम चीज़ें थीं जो, उस समय तुम्हें जैसी उन्नति करनी थी उसे कराने के लिए, तुम्हारे साथ हो सकती थीं। और यदि तुम ज़रा भी समझदार होओ तो तुम अपने-आपसे कहते हो: "सचमुच भगवान् की 'कृपा' अनन्त है।"

अतएव, जब इस प्रकार की चीज़ अनेक बार तुम्हारे साथ हो चुकती है, तो तुम यह समझना आरम्भ कर देते हो कि मनुष्य की अन्धता और भ्रामक बाह्य रूपों के बावजूद भगवत्कृपा ही सर्वत्र कार्य कर रही है, जिससे कि प्रत्येक मुहूर्त, उन स्थितियों में जिनमें कि यह संसार उस मुहूर्त में होता है, सर्वोत्तम सम्भवनीय वस्तु ही होती है। चूँकि हमारी दृष्टि सीमित है अथवा इसलिए भी कि हम अपनी ही निजी अभिरुचियों के द्वारा अन्धे बने होते हैं, हम यह नहीं देख पाते कि चीज़ें इस प्रकार हैं।

परन्तु जब मनुष्य इसे देखना आरम्भ करता है तो वह ऐसे आश्चर्य में पड़ जाता है जिसका वर्णन कोई चीज़ नहीं कर सकती। क्योंकि बाह्य रूपों के पीछे मनुष्य इस 'कृपा' को देखता है—जो अनन्त, आश्चर्यमयी, सर्वशक्तिशाली है—जो सब कुछ जानती है, सब कुछ व्यवस्थित करती है, सब कुछ संयोजित करती है, और हमें—हम उसे चाहें या नहीं, हम उसे जानें या नहीं—परात्पर लक्ष्य की ओर, अर्थात्, भगवान् के साथ एकत्व-प्राप्ति की ओर, परम देव की अभिज्ञता और उनके साथ एकत्व की ओर ले जाती है।

तब मनुष्य भगवत्कृपा के 'कार्य' और उसकी 'उपस्थिति' के अन्दर आनन्द से, आश्चर्य से भरपूर जीवन यापन करता है और एक अद्‌भुत शक्ति-सामर्थ्य का अनुभव करता है तथा उसके साथ-ही-साथ उसमें उसके प्रति एक ऐसा भरोसा होता है जो इतना शान्त-स्थिर, इतना पूर्ण होता है कि कोई चीज़ अब उसे हिला नहीं सकती।

और जब मनुष्य पूर्ण ग्रहणशीलता तथा पूर्ण अनुरक्ति की इस स्थिति में होता है, वह उस हद तक भागवत कार्य के लिए संसार के प्रतिरोध को कम कर देता है; फलतः, यही है वह सर्वोपरि सहयोग जिसे मनुष्य भगवान् के कार्य में दे सकता है। मनुष्य तब समझता है कि भगवान् क्या चाहते हैं, और अपनी सम्पूर्ण चेतना के साथ 'उनकी इच्छा' का अनुसरण करता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३१०-११

'वे' सब जगह हैं

यह बात मैंने प्रायः ही अपने-आपसे पूछी है : जब व्यक्ति भगवान् से कोई प्रार्थना करता है और उन्हें समझाना चाहता है कि कोई वस्तु ठीक नहीं है, तब मुझे सदा ऐसा प्रतीत होता है कि उसे बलपूर्वक अपने-आपको एकाग्र करना चाहिये, और प्रत्येक अवस्था में दूर की किसी ऊँची वस्तु का आवाहन करना चाहिये। क्या यह ठीक है? या यह वस्तुतः...

यह हम पर निर्भर करता है!

रही बात मेरी तो मैं अब उन्हें सर्वत्र, सारे समय, सारे समय अनुभव करती हूँ... उनका भौतिक सम्पर्क तक अनुभव करती हूँ—यह सूक्ष्म-भौतिक होता है, पर है भौतिक—वस्तुओं में, वायु में, लोगों में...। इस प्रकार, *(श्रीमाँ अपने हाथों से अपने मुख को दबाती हैं)*। और व्यक्ति को दूर जाने की आवश्यकता नहीं, मुझे केवल इतना ही करना होता है *(माँ अपने हाथों को थोड़ा अन्दर की ओर मोड़ती हैं)*, एकाग्रता का एक सेकेंड और भगवान् मौजूद होते हैं, मौजूद होते हैं, वे सर्वत्र हैं, है न? वे दूर केवल तभी होते हैं जब हम उन्हें दूर समझते हैं।

स्वभावतया जब हम वैश्व चेतना के सभी प्रदेशों, सभी स्तरों के विषय

में सोचना शुरू करते हैं और यह समझने लगते हैं कि वे वहाँ, दूर, बड़ी दूर, परले सिरे पर हैं तो वे सचमुच दूर, दूर, बहुत दूर हो जाते हैं! *(श्रीमाँ हँसती हैं)*। किन्तु जब हम यह सोचते हैं कि वे सर्वत्र मौजूद हैं, वे ही सब कुछ हैं और केवल हमारा बोध ही हमें उन्हें देखने और उनको अनुभव करने से रोकता है; तो सब कुछ पलट जाता है। हमें केवल इतना करना है *(श्रीमाँ अपने हाथ अन्दर की ओर मोड़ती हैं)*; यह इस प्रकार की और इस प्रकार की क्रिया है *(श्रीमाँ बारी-बारी से हाथ अन्दर और बाहर की ओर मोड़ती हैं)*, यह क्रिया बड़े ठोस प्रकार की होती है। तुम ऐसा करते हो *(बाहर की ओर की क्रिया)*, और सब कुछ कृत्रिम, कठोर, रूखा, ग़लत, मिथ्या, हाँ, कृत्रिम हो जाता है। तुम ऐसा करते हो *(अन्दर की ओर की क्रिया)* तब सब कुछ विशाल, शान्त, आलोकमय, प्रशान्त, असीम और आनन्दमय हो जाता है। और केवल यह, केवल यह *(माँ बारी-बारी से अपने हाथों को अन्दर और बाहर की ओर मोड़ती हैं)*। कैसे? कहाँ? इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, किन्तु यह केवल, चेतना की केवल एक क्रिया है, और कुछ नहीं। चेतना की एक क्रिया। और सच्ची चेतना और झूठी चेतना के बीच का अन्तर अधिकाधिक... यथार्थ होता जाता है, साथ ही **क्षीण** भी—इससे बाहर निकलने के लिए तुम्हें कोई "बहुत बड़े" काम नहीं करने पड़ते। पहले, तुम ऐसा सोचते थे कि तुम किसी वस्तु में निवास करते हो और उससे बाहर निकलने के लिए तुम्हें एक तीव्र अन्तर्मुखता की, एकाग्रता और तल्लीनता की आवश्यकता है। किन्तु अब तुम्हें प्रतीत होता है कि यह एक ऐसी वस्तु है जिसे तुम स्वीकार करते हो *(श्रीमाँ अपने मुख को अपने हाथ की ओट में कर लेती हैं)*, एक ऐसी वस्तु जो पतले छिलके के समान है, पर है बहुत कड़ी—बहुत कड़ी, पर लचकीली, अत्यधिक शुष्क, किन्तु बहुत महीन, बहुत ही महीन, बहुत महीन, मानों एक नकाब पहन रखा हो; और तब तुम ऐसा करते हो; *(माँ संकेत करती हैं)* वह लुप्त हो जाती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. १७९-८०

प्रार्थनाएँ विश्वास से भरी होनी चाहियें,
उनमें दुःख या रोने-धोने का लेशमात्र भी न हो। —*श्रीअरविन्द*

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

जून

१. ओह, कैसा अद्‌भुत होगा उन बाहरी चीज़ों को न देखना जो हमेशा बदलती रहती हैं; हर जगह और हर चीज़ में केवल भगवान् की अपरिवर्तनीय एकता को देखना कितना अद्‌भुत होगा!

२. सारी सृष्टि उससे भगवान् के बारे में बोलती है जो अपने हृदय में सुनना जानता है।

३. मानव सत्ताएँ अपने-आपको भगवान् से दूर खींच सकती हैं—और वे प्रायः ऐसा करती भी हैं; परन्तु भगवान् के लिए अपने-आपको मानव सत्ताओं से दूर खींचना असम्भव है।

४. जैसे-जैसे हम प्रगति करते और अपने-आपको अहंकार से शुद्ध करते हैं, वैसे-वैसे भगवान् के साथ हमारी मैत्री ज़्यादा-ज़्यादा स्पष्ट और सचेतन होती जाती है।

५. अपने ही ऊपर एकाग्रता का अर्थ है विनाश और मृत्यु। केवल भगवान् पर एकाग्रता जीवन, वृद्धि और सिद्धि लाती है।

६. जीवन सत्य और मिथ्यात्व, प्रकाश और अन्धकार, प्रगति और अवनति तथा शिखरों पर उत्थान या खाई में पतन के बीच सतत चुनाव है। इसमें हर एक को खुल कर चुनाव करने का अधिकार है।

७. मनुष्य होने के लिए अनुशासन अनिवार्य है।
अनुशासन के बिना तुम मनुष्य नहीं पशु हो।
तुम मनुष्य होना तभी शुरू करते हो जब तुम उच्चतर और सत्यतर जीवन के लिए अभीप्सा करो और रूपान्तर का नियन्त्रण स्वीकार करो। और इसके लिए तुम्हें अपनी निम्न प्रकृति और उसकी कामनाओं को वश में करना होगा।

८. हर चीज़ कितनी सुन्दर, महान्, सरल और शान्त बन जाती है जब हमारे विचार भगवान् की ओर अभिमुख होते हैं और हम अपने-आपको भगवान् के अर्पण कर देते है!

९. शान्ति को सार्वजनिक रूप से सराहा और दिव्य माना जाता है,

परन्तु प्रगति का स्वागत वे ही लोग करते हैं जिनमें तीव्र अभीप्सा और साहस हो।

१०. स्वयं अपने प्रति सच्चे रहो—(अपने-आपको धोखा न दो)। भगवान् के प्रति सच्चे रहो (समर्पण में कोई सौदा न करो)। मानवजाति के प्रति सच्चे रहो (कोई ढोंग और दिखावा नहीं)।

११. सब प्रकार की घटनाओं के सामने मनुष्य जितना अधिक शान्त रहे, सब तरह की परिस्थितियों में जितना अधिक स्थिरचित्त रहे, अपने ऊपर पूर्ण स्वामित्व रखे तथा जो कुछ भी घटे उसके सामने जितना अधिक शान्त रहे उतना अधिक वह लक्ष्य की ओर प्रगति करता है।

१२. हम अपने मार्ग पर जितना ही आगे बढ़ते हैं उतने ही विनम्र होते जाते हैं और उतना अधिक हम यह देखते हैं कि जितना करना बाक़ी है उसकी तुलना में हमने अभी तक कुछ भी नहीं किया है।

१३. सच्ची नम्रता यह जानने में है कि केवल परम चेतना, परम इच्छा का ही अस्तित्व है और 'मैं' का अस्तित्व **नहीं है**।

१४. अज्ञान में जब आदमी दूसरों की बुराई करता है तो इससे वह अपनी चेतना को गिराता और अपनी अन्तरात्मा का अपमान करता है।

१५. अपने-आपको क्षमा करने का कोई लाभ नहीं। तुम्हारे अन्दर ऐसा संकल्प होना चाहिये कि अपनी की हुई भूलों में फिर कभी न गिरोगे।

१६. अपमान, तिरस्कार से ऊपर उठ जाने से आदमी सचमुच बड़ा हो जाता है।

१७. जो दोषहीन है वह दूसरों की राय की परवाह नहीं करता।

१८. समन्वय और ज़्यादा अच्छे काम के लिए आदमियों को बदलने से काम ज़्यादा अच्छा नहीं हो सकता, बल्कि चीज़ें ज़्यादा अच्छी हो सकती हैं अपनी चेतना और चरित्र को बदलने से।

१९. हम अपने-आप प्रगति करें, औरों से प्रगति करवाने का यह सबसे अच्छा तरीक़ा है।

२०. तुम्हारे अन्दर यह विचार, "इसका लाभ ही क्या" तुम्हारी संकल्प-शक्ति को कमज़ोर बनाने के लिए कभी न आने पाये। यह विचार कि तुम एक स्वभाव लेकर पैदा होते हो और उसे किसी तरह नहीं बदला जा सकता, निरी मूर्खता है।

२१. अन्तरात्मा स्वयं भगवान् का अंश होने के कारण समस्त नैतिक धारणाओं से ऊपर है। वह दिव्य ज्योति में स्नान करती और उसे अभिव्यक्त करती है, लेकिन वह समस्त सत्ता पर तभी शासन कर सकती है जब अहंकार को विलीन कर दिया जाये।

२२. **परम तादात्म्य की ओर तीन पग :**

तुम्हारे पास जो कुछ है दे दो, यह आरम्भ है।
तुम जो कुछ करते हो सब दे दो, यह मार्ग है।
तुम जो कुछ हो सब दे दो, यह है पूर्ति।

२३. जितने रोगी उतने ही उपचार।

चिकित्सा में सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ है शरीर को उचित प्रतिक्रिया करना और रोग को नकारना सिखाना।

२४. ... यदि तुम नीचे से आने वाली शक्तियों के साथ एकात्म होते हो तो तुम दुःख-क्लेश भोगते हो, यदि तुम ऊपर से आने वाली शक्तियों के साथ एकात्म होते हो तो सुखी रहते हो।

२५. समस्त उपलब्धि के लिए संगठन और अनुशासन आवश्यक नींव हैं। अच्छी तरह हुकुम देना जानने से पहले अच्छी तरह आज्ञा पालन करना जानना चाहिये।

२६. बहुत सावधान रहो। अवसाद, अनुत्साह और विद्रोह के लिए दरवाज़ा न खोलो, यह तुम्हें चेतना से दूर, बहुत दूर ले जाकर अन्धकार की गहराइयों में डुबो देता है जहाँ सुख कभी प्रवेश भी नहीं पा सकता। मुस्कान ही तुम्हारी सबसे बड़ी शक्ति है।

२७. मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ, लेकिन तुम्हें मुझे बुलाना कभी न भूलना चाहिये, क्योंकि मुझे बुलाने से ही उपस्थिति प्रभावकारी होती है।

२८. केवल शान्ति और अध्यवसाय के साथ प्रकाश के फिर से आने की अभीप्सा करो। मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है जो इस बुरे समय को पार करने में तुम्हारी मदद करेगा।

२९. मैं अपने-आपको तेरे प्रति खोलता हूँ और पूर्ण निष्ठा के साथ तेरी आज्ञा का पालन करूँगा।

३०. अपना अवलोकन करना अच्छा है ताकि तुम अपनी कमज़ोरियाँ देख सको और उन्हें सुधारने-लायक बन सको।

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

अपने अन्दर प्रभु को उतारो

हम पहले मनोवैज्ञानिक पक्ष को पाँच भागों में बाँट सकते हैं। पाँच मनोवैज्ञानिक पक्षों को माताजी ने चम्पा (श्रीमाँ ने कई फूलों के आध्यात्मिक नाम दिये हैं। चम्पा है—मनोवैज्ञानिक पूर्णता।) की पाँच पंखुड़ियों में गिनाया है—सच्चाई, श्रद्धा, भक्ति, अभीप्सा और समर्पण। अगर तुम अपने अन्दर इन पाँचों को विकसित कर सको तो तुम्हारी प्रगति बहुत तेज़, बहुत तेज़ होगी। हम अपनी खिड़की खोलें तो सूर्यालोक हमारे पास आता है, हमें उसके पास नहीं जाना पड़ता। तो अगर हम अपने-आपको मनोवैज्ञानिक तरीक़े से तैयार कर लें तो भगवान् हमारे सामने प्रकट होंगे, हमें उनकी खोज नहीं करनी होगी। हमने अपने अन्दर के द्वार बन्द कर रखे हैं और हम बाहर उनकी खोज कर रहे हैं। हम द्वार खोल दें तो वे अपने-आपको प्रकट कर देंगे। मनोवैज्ञानिक पूर्णता द्वारा भगवान् हमारे सामने प्रकट होंगे।

सच्चाई या निष्कपटता का सम्बन्ध पारदर्शकता के साथ होना चाहिये। तुमको पूरी तरह पारदर्शक हो जाना चाहिये। यह सब सोचना कि 'वह क्या कहेगा', 'यह क्या करेगा?' 'वह मुझे नुकसान पहुँचाना चाहता है।' कोई तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। तुम्हारी नज़र केवल एक पर, भगवान् पर रहनी चाहिये, तुम्हें केवल एक भगवान् को प्रसन्न करना और केवल उन्हीं की बात सुननी चाहिये। बाक़ी चीज़ों का महत्त्व नहीं है, यह अपूर्णता है। अगर तुम भगवान् के प्रति निष्ठावान् हो तो सबके प्रति निष्ठावान् होगे। अगर तुम उनके प्रति खुले हुए हो तो तुम उच्चतम के प्रति खुले हो। तुम्हारे जीवन का एकमात्र कारण, एकमात्र प्रयोजन है भगवान् की उपस्थिति के बारे में सचेतन होना और उनका पूर्ण यन्त्र बनना, तुम्हारे जीवन का कोई और प्रयोजन नहीं है। और सभी प्रयोजन मनुष्य के गढ़े हुए हैं और कमज़ोरी की निशानी हैं, और उनका हमारे केन्द्रीय लक्ष्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

... हाँ, तो पहली चीज़ है पारदर्शकता। तुमको पूरी तरह पारदर्शक होना चाहिये। प्रभु तुम्हारे अन्दर हैं, उन्हें अपनी आँखों से देखने, अपने

कानों से सुनने दो और वे ही तुम्हारे मुँह से बोलें। तब तुम परिणाम देखोगे। बिना जाने ही लोग तुमको देख कर और तरह से सोचने लगेंगे क्योंकि तब तुम नहीं, 'वे' उन लोगों से मिल रहे होंगे, 'वे' उनसे बातें कर रहे होंगे, 'वे' ही उन्हें देख रहे होंगे, तुम्हारे द्वारा 'वे' ही उनकी बातें सुन रहे होंगे।

सवाल यह है कि अहंकार को कैसे अपदस्थ किया जाये? यह तुम्हें नहीं करना है। सामान्यतः तुम कहते हो, "मैं अपने अहंकार को अपदस्थ करना चाहता हूँ, मैं अपने अहं से पीछा छुड़ाना चाहता हूँ।" यह ग़लत तरीक़ा है। पहले अपने अन्दर भागवत उपस्थिति को प्रतिष्ठित करो और अहंकार ग़ायब हो जायेगा। अगर तुम अपने अहंकार के साथ संघर्ष करते जाओगे तो यह एक और तरह का अहंकार होगा। इसलिए अपने अन्दर भागवत उपस्थिति को स्थापित करो। जो श्रीअरविन्द के भक्त हैं वे श्रीअरविन्द के नाम से प्रतिष्ठित कर सकते हैं। जो भगवान् के किसी और रूप के भक्त हैं वे उस रूप को अनुभव और स्थापित कर सकते हैं। इसमें कोई हर्ज़ नहीं, परन्तु पहले अपने अन्दर उस प्रकाशमय उपस्थिति का अनुभव करो। यह अनुभव करो कि तुम्हारा सारा शरीर 'उनके' प्रकाश से भरा है, तुम्हारा श्वास-प्रश्वास 'उनके' प्रकाश से भरा है, क्योंकि सच्चाई का अर्थ होगा भगवान् को छोड़ कर और किसी भी प्रभाव को अपनी चेतना में न आने देना।

हाँ, तो सच्चाई, पारदर्शकता, अहंकार का अपदस्थ होना, भगवान् के सिवा और किसी प्रभाव को स्वीकार न करना—ये सब एक ही हैं। एक बार तुम निश्चय कर लो तो उनकी सहायता आती है। अगर तुम कहो, "हे भगवन्, सचमुच यह मेरे बस का नहीं है, मैं आपकी उपस्थिति को स्थापित नहीं कर सकता, मैं अन्य विचारों और भावों को आने से नहीं रोक सकता, आप इसके लिए कुछ क्यों नहीं करते? कृपया मेरी सहायता कीजिये" तो वे क्या करेंगे? क्या तुम सोचते हो कि वे कहेंगे, "नहीं, मैं तुम्हारी सहायता नहीं करूँगा, तुम अपना संघर्ष अपने-आप करो?" नहीं, यह असम्भव है। उन्होंने *गीता* में वचन दिया है और श्रीअरविन्द ने भी इसका अनुमोदन किया है, "मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हारी सारी ज़िम्मेदारी ले लूँगा।" यह आश्चर्यजनक है कि एक बार तुम उनकी ओर मुड़ो तो तुम्हारे और भगवान् के बीच के सभी परदे फट जाते हैं। यह एक बार की घटना

नहीं है, शताब्दियों से चली आ रही भगवान् की रीत है। तुलसी रामायण में देखो, जब रावण का भाई विभीषण राम से मिलने आता है और वानर सुग्रीव से कहते हैं, "इसके हृदय में कुछ खोट है, हो सकता है कि यह हमें धोखा दे, हमें सावधान रहना चाहिये, वह रावण का गुप्तचर हो सकता है" तो राम एक बड़ी मज़ेदार बात कहते हैं, "सम्मुख होइ जीव मोहि जब ही, जन्म कोटि अघ नासहि तब ही।"—यानी जब जीव मेरे सामने आता है तो उसके करोड़ों जन्मों के पाप विलीन हो जाते हैं। चूँकि लोग सच्चा प्रयास नहीं करते इसलिए इधर-से-उधर हाथ-पैर मारने लगते हैं। सच्चाई, पारदर्शकता, अहंकार का त्याग ये सब साथ-ही-साथ चलते हैं। यह पहला और सबसे प्रमुख चरण है।

(क्रमशः)

—नवजात जी

"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र

('मेरी नन्हीं मुस्कान' के नाम, यह उन पहले बच्चों में से थी जिन्हें आश्रम में प्रवेश मिला था। यह चौदह वर्ष की अवस्था में आयी थी। नन्हीं मुस्कान बहुत वर्षों तक माताजी के कपड़ों पर कशीदाकारी करती रहीं और फिर उनकी व्यक्तिगत सेविकाओं में से एक हो गयीं। उन्होंने सत्रह वर्ष की अवस्था में माताजी को पत्र लिखना शुरू किया था।)

प्यारी माँ,

मुझे लगता है कि मेरा मन (या स्वयं मैं) स्थिर नहीं होना चाहता। अगर मैं स्थिर होना चाहती तो स्वभावतः अपने-आपको अधिक स्थिर बनाने की कोशिश करती। है न?

मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में केवल वही रोगी स्वस्थ नहीं होते जो स्वस्थ होना नहीं चाहते। शायद शारीरिक रोगों के लिए भी यही बात है?

५ जनवरी १९३३

प्यारी माँ,

यह मनोवैज्ञानिक और शारीरिक बीमारियों के बारे में क्या बात

है? मैं इसके बारे में कुछ नहीं समझ पायी।

विचारों और भावनाओं की बीमारियाँ मनोवैज्ञानिक हैं जैसे अवसाद, विद्रोह, उदासी आदि। शारीरिक का मतलब है शरीर की बीमारियाँ।

६ जनवरी १९३३

प्यारी माँ,

हाँ, मैं जानती हूँ कि आप जानती हैं कि अब मैं आपसे कुछ नहीं छिपा सकती और आपके बिना जीना मेरे लिए असम्भव है। इसीलिए माँ, आप चाहती हैं कि मैं अधिक-से-अधिक, जितना सम्भव हो दुःख भोगूँ—है न ऐसा?

मैं बिलकुल नहीं समझ पाती कि तुम क्या कहना चाहती हो। ऐसा लगता है कि तुम **यह कहना चाहती हो** कि मैं तुम्हें दुःखित होते देखना चाहती हूँ; लेकिन यह इतनी वाहियात बात है कि मैं यह विश्वास नहीं कर सकती कि तुम्हारा यही मतलब है।

जब मैं अपनी पूरी इच्छा-शक्ति के साथ सारी दुनिया से दुःख-दर्द को ग़ायब करने के लिए काम कर रही हूँ तो यह कैसे हो सकता है कि मैं यह चाहूँ, या यह पसन्द करूँ कि मेरे बच्चों में से कोई पीड़ा सहे! यह भयंकर बात होगी।

७ जनवरी १९३३

प्यारी माँ,

पिछले दो दिनों से मुझे बहुत निराशा और उदासी का अनुभव हो रहा है—यहाँ तक कि मुझे लगता है कि अगर कुछ दिनों तक यही हालत रही तो मेरे लिए इन चीज़ों से छुटकारा पाना बहुत कठिन हो जायेगा।

मुझे पता नहीं कि क्या होने वाला है, लेकिन मैं अपने-आपको यह सोचने से नहीं रोक सकती कि अगर मैं सारे समय इसी हालत में रही और कभी ख़ुश न रही तो जल्दी ही मेरे लिए जीना असम्भव हो जायेगा। इन दो दिनों में, निराशा और उदासी में मेरी आत्म-हत्या

करने की इच्छा हुई। (डरिये नहीं, मैं आत्म-हत्या नहीं करूँगी, मैं आपको केवल अपनी अवस्था बतला रही हूँ ताकि आपको इसकी जानकारी दे सकूँ।)

जैसे बाहरी जगत् में चोर होते हैं उसी तरह सूक्ष्म जगत् में भी होते हैं। लेकिन जैसे कोई समझदार आदमी अपने मकान के दरवाज़े अन्दर से बन्द करके चिटकनी लगा देता है उसी तरह तुम्हें उनके लिए अपने विचारों और भावों के दरवाज़े बन्द कर देने चाहियें।

उदासी, निराशा, आत्म-घात के ये सुझाव प्राणिक जगत् के उन्हीं चोरों से आते हैं, क्योंकि जब तुम विषादपूर्ण होते हो तो वे तुम्हें सबसे अच्छी तरह लूट सकते हैं। तुम्हें उनकी बात पर कान न देना चाहिये—उनके दुष्ट सुझावों को रद्द कर देना और फिर से अपने-आप, यानी मेरी 'नन्हीं मुस्कान' बन जाना चाहिये। ९ जनवरी १९३३

प्यारी माँ,

अब आप मुझे 'मेरी बच्ची' नहीं कहतीं। क्या मैं इतनी बुरी और अयोग्य हूँ?

माताजी, मुझे लगता है कि मैं जितना कर सकती हूँ कर रही हूँ, फिर भी अगर मैं अच्छी नहीं बन पाती तो क्या करूँ? हाँ, मैं जानती हूँ कि मैं पहले जो थी वैसी अब नहीं हूँ।

आज तीसरे पहर मैंने तुम्हें जो छोटा-सा पुरज़ा भेजा था उस पर 'मेरी बच्ची' न लिखने के पीछे कोई अन्यथा भाव न था, मैं बहुत जल्दी में थी और मैंने, जितने कम शब्द लिखे जा सकें उतने लिखे थे। सचमुच मुझे उस समय का अभाव खलता है जब तुम वास्तव में शाश्वत नन्हीं मुस्कान थीं, सहज रूप से, बिना किसी प्रयास के, जब तुम अपने काम से सन्तुष्ट रहती थीं, मेरे निकट रहने से प्रसन्न थीं, इतनी विश्वास-भरी और सरल थीं कि मैं जो कुछ भी करूँ उसके मिथ्या अर्थ न लगाती थीं। किसने तुम्हारे हृदय में सन्देह और असन्तोष का यह विष उँडेला है? किसने एक साथ तुम्हारी प्रसन्नता, जीवन के सरल आनन्द और सुन्दर मुस्कान को छीन लिया है जिसे देखने से जी जुड़ा जाता था? मैं तुमसे उत्तर पाने के लिए

प्रश्न नहीं कर रही, मेरा ख़याल है कि मैं जानती हूँ। यह सिर्फ़ इसलिए है ताकि तुम समझ जाओ कि मैं इस परिवर्तन के लिए तुम्हें उत्तरदायी नहीं ठहराती जो **तुम्हारे ऊपर बाहर से आया है**। अब बस एक ही रास्ता खुला है, प्रगति का रास्ता—क्योंकि पीछे की ओर लौटना असम्भव है, तुम्हें आगे बढ़ना होगा और जो केवल **सहज वृत्तिमूलक** था उसे अब **सचेतन** और **स्वेच्छापूर्ण** बनाना होगा।

और मेरे प्रेम के बारे में कभी सन्देह न करो, जो हमेशा तुम्हारे साथ रहता है ताकि अनिवार्य प्रगति करने में यह तुम्हारी सहायता करे।

११ जनवरी १९३३

प्यारी माँ,

आपने मुझसे हर रोज़ आपको कुछ लिखने को कहा था। लेकिन अब मेरे पास कुछ भी कहने को नहीं है और मेरी समझ में नहीं आता कि क्या लिखूँ। आपने जब मुझसे लिखने के लिए कहा था तब से मैंने जो कुछ लिखा है उसके बारे में आपने कहा है कि सुखी और अच्छा बनने के लिए मुझे अपनी पूरी इच्छा-शक्ति के साथ उसके लिए चाह करनी चाहिये और पहले की तरह काम करना चाहिये। मैंने ऐसा करना शुरू कर दिया है।

लेकिन जब मेरे पास लिखने को कुछ भी न हो तो, (जैसा आपने कहा था सम्पर्क बनाये रखने के लिए,) मैं क्या लिखूँ?

माताजी, आप मुझे बतलाइये।

मेरी नन्हीं मुस्कान,

जब तुम्हारे पास लिखने के लिए और कुछ न हो तो तुम मुझे यही बतला सकती हो कि तुम कितने बजे उठीं (उदाहरण के लिए यूँ: आज सवेरे मैं इतने घण्टे सोने के बाद इतने बजे उठी, नहा-धोकर मैंने नाश्ता किया फिर इतने बजे काम करना शुरू किया, इत्यादि); तुम मुझे बतला सकती हो कि तुम किनसे मिलीं और तुमने किनसे बात की, तुमने उनसे क्या कहा इत्यादि। यह फ्रेंच का अच्छा अभ्यास होगा और साथ ही हमारे बीच अधिक घनिष्ठता पैदा करेगा। १३ जनवरी १९३३

प्यारी माँ,

आज सवेरे मैं पौने छः बजे उठी, स्नान किया, कपड़े बदले और फिर 'क' की खिड़की से अपनी कॉपी लेने गयी। (मैं हमेशा ऐसा ही करती हूँ)। साढ़े छः बजे कोको पी कर पौने सात बजे मैंने अपना काम शुरू कर दिया। साढ़े सात बजे मैं आपको प्रणाम करने गयी और पौने आठ बजे फिर से काम शुरू कर दिया। साढ़े नौ बजे मैं 'ख' के घर गयी ताकि 'ग' के लिए कुछ काम ले आऊँ, उसके बाद साढ़े ग्यारह तक फिर काम करती रही। फिर भोजन करके मैंने दस मिनट आराम किया। बारह बजे मैं फिर से काम पर लग गयी। साढ़े बारह बजे 'ग' काम करने आयी और दो बजे के लगभग उसने हम लोगों के लिए नींबू का रस तैयार किया। मैंने बारह बजे से आठ बजे तक काम किया। मैंने मुकुट की कशीदाकारी पूरी कर ली।

वाह, यह तो सफलता है! यह अच्छा वर्णन है और मुश्किल से कहीं कोई भूल है। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुमने अपना दिन कैसे बिताया। इसी तरह जारी रखना अच्छा होगा।

१४ जनवरी १९३३

माताजी,

मैं आपको हर रोज़ उन्हीं चीज़ों के बारे में लिखती हूँ: नींद, काम और बातचीत। क्या आपको हर रोज़ वह-की-वही चीज़ें पढ़ने में मज़ा आता है?

क्यों नहीं, मेरी नन्हीं मुस्कान? तुम एक ही बात को अलग-अलग तरह से कहना सीख सकती हो। यह लिखना सीखने के लिए और अपनी शैली गढ़ने के लिए अच्छा अभ्यास है। ऐसा लगता है कि तुम इन दिनों सुलेख का अभ्यास कर रही हो! तुम्हें इतने सुन्दर अक्षर लिखना किसने सिखाया?

तुम्हारी स्नेहमयी माँ।

२५ जनवरी १९३३

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ८३-८७

नीरवता वह स्थिति है जब सत्ता भगवान् की बात सुनती है। —श्रीमाँ

प्रार्थना में लौलीन

बचपन में ही तीन बच्चे जब भगवान् को प्यारे हो गये तो सीता अपने-आपको संसार की सबसे अभागी नारी मानने लगी। अनेक देवी-देवताओं की पूजा-उपासना और व्रत-नियमों के पालन ने ही सम्भवतः उसके चौथे बेटे की रक्षा कर ली। वैसे तो उसका पुत्र हेम सामान्य नैन-नक्शवाला था, लेकिन माँ की नज़रों से कोई देखता को वह सीधा गन्धर्वलोक से उतर आया देवदूत नज़र आता। अपने जीवन के केन्द्र—अपने पुत्र—से क्षण-भर का अलगाव भी माता को विह्वल बना देता। यहाँ तक कि वह गाँववालों के उपहास का केन्द्र भी बन चुकी थी, क्योंकि छह साल के बच्चे को इस आशंका से उसने कभी विद्यालय तक न भेजा कि कहीं मेरे लाल को कुछ हो न जाये। बस छाया की तरह उसके आगे-पीछे मँडराती रहती।

समय के साथ-साथ पुत्र के प्रति माँ की आसक्ति भी बढ़ती चली गयी, लेकिन हृदय के किसी कोने में हर समय दुश्चिन्ता की काली छाया डेरा डाले रहती—कहीं कुछ अघटित न घट जाये!!

सच है, आदमी जिस चीज़ से भय खाता है उसे क्षण-क्षण याद कर चुम्बक की तरह अनायास अपनी ओर खींचता भी रहता है। एक सवेरे बेटे के मुरझाये चेहरे को देख माँ के शरीर में बिजली की सिहरन दौड़ गयी। बुखार से तप रहा था हेम का शरीर। पति को वैद्यराज के घर दौड़ाया और स्वयं बेटे के सिरहाने बैठ गयी, बैठी क्या, न चाहते हुए भी अशुभ और अमांगलिक विचार बुनने लगी...। जब तक वैद्यजी आये सीता के मन पर दुश्चिन्ता का काला परदा पड़ चुका था, डर के मारे वह काँप रही थी। पति ने पत्नी को सँभाला, वैद्यराज पुत्र को दवाई देकर चले गये। माँ का खाना-पीना तक छूट गया। अपने बेटे हेम की सेवा-सुश्रूषा में माँ ने दिन-रात एक कर दिया और जब सातवें दिन भी ज्वर न छूटा तो गाँव के वैद्यराज ने भी चिन्तित स्वर में जवाब-सा दे दिया—"सामान्य बुखार नहीं लगता, इसे तो आप शहर ले जाकर किसी बड़े डॉक्टर को दिखलाइये।"

सीता पथरा कर ज़मीन पर गिर पड़ी। वैद्यराज बड़ी कठिनाई से उसे होश में लाये, लेकिन दुःख की मारी वह बार-बार पछाड़ें खाकर गिरने लगी। पति रामलाल भी पत्नी की ऐसी हालत और पुत्र की बीमारी देख

पागल-सा हो उठा। अन्त में गाँववालों ने मिल कर उन्हें ढाढ़स बँधाया और सब बच्चे को शहर ले जाने की व्यवस्था में जुट गये। सचमुच हर तरह की सान्त्वना व्यर्थ होती दीख रही थी। सीता धाड़ें मार कर रो रही थी और बेटे को किसी भी तरह शहर ले जाने का उसका जी न मान रहा था। बेचारे हितैषी अब करते भी तो क्या करते भला? अन्त में सीता की पड़ोसी बूढ़ी माई ने उसके बहुत क़रीब आ, उसका माथा प्यार से सहलाया और धीरे-धीरे कुछ कहने लगी। पता नहीं क्या जादू हुआ और सीता की हिचकियाँ धीरे-धीरे सँभलने लगीं, उसने अपने-आप पर क़ाबू पा लिया। आँखें ज़रा खुलीं, बेटे को प्यार से देखा और बूढ़ी माई के वचन उसके दग्ध हृदय पर शीतलता का लेप लगाने लगे—"बेटी, सब कुछ समाप्त नहीं हो गया। तुम्हारा बेटा ज़िन्दा है और बरसों तक सुख से जियेगा। धीरज धरो। सबसे बड़े चिकित्सालय, भगवान् के मन्दिर, में इसे ले जाओ। अपनी आँखों के तारे की पूरी ज़िम्मेवारी अब उन वैद्यों के वैद्यराज के हाथों में सौंप दो।"

सीता के हृदय में बल का सञ्चार हो उठा। दुःख को झटक, शोक से कातर पति के आँसू पोंछ, वह बोल उठी—"स्वामी! जब तक हेम स्वस्थ नहीं हो जाता हम प्रभु के घर पर ही रहेंगे।"

पुत्र को ले पति-पत्नी मन्दिर पहुँच गये। आरती की मधुर झंकार से उनके हृदय की घण्टियाँ भी बज उठीं। आज प्रभु के दर्शन कर सीता सुध-बुध खो बैठी थी। बालक को मूर्ति के सामने ज़मीन पर लिटा कर माता-पिता ऐसी प्रार्थना में डूबे कि अन्त में पुजारीजी के स्पर्श से ही वे सचेतन हुए। आँखें खोल सीता ने उसी समय हाथ जोड़ प्रार्थना की और साथ-साथ घोषणा भी कर दी—"माँ! मेरा लाल पूरी तरह से स्वस्थ हो जाये, दीर्घायु हो वह, ऐसा आशीर्वाद दे माँ! बेटे के ठीक हो जाने पर मैं तीर्थयात्रा के लिए अवश्य जाऊँगी।"

माता-पिता की निश्छल प्रार्थना देवाधिदेव तक पहुँचने में समय नहीं लगा। देखते-न-देखते मरणासन्न पुत्र के मुखमण्डल पर स्मित का दीया जल उठा। हर्ष और आनन्द से बौराये माता-पिता के साथ-साथ पूरा गाँव उस ख़ुशी में बह चला।

बेटे के पूरी तरह स्वस्थ हो जाने के बाद सीता तीर्थयात्रा की तैयारी में

लग गयी। यात्रा से पहले दिन सारा गाँव सीता के घर में जुट आया था। ख़ुशबूदार पकवानों से सारा आँगन लहक रहा था, महक रहा था। सबने भरपेट भोजन कर बालक हेम को सौ-सौ आशीर्वाद दे अपने-अपने घर की राह ली। दम्पती भी अन्तिम तैयारी में जुट गये।

"नाथ, पड़ोस में बूढ़ी माई को अपनी गाय सौंप आऊँ ताकि हमारी अनुपस्थिति में गौ-माता की देखभाल में कोई कसर न रह जाये" कहती हुई सीता घर से निकल पड़ी।

माई के घर का दरवाज़ा खुला था। अँधियारे घर को देख सीता आश्चर्य में पड़ सोचने लगी—तीन दिन में माई की पुत्री का विवाह है, लेकिन यहाँ तो आनन्दोल्लास की छाया तक नहीं दिखायी दे रही! वह अन्दर चली गयी और तभी रुदन के धीमे स्वर ने उसे ठिठका दिया। घर के एक कोने में वृद्धा माता को सुबकता देख सीता दौड़ कर उसके पास गयी, पीछे से उसकी पीठ को सहलाते हुए बड़े ही आत्मीय स्वर में बोली—"अरे माई! कौन-सा दुःख टूट पड़ा कि ब्याह के घर में शोक छा गया?"

आँसू पोंछ, सीता का हाथ पकड़ वृद्धा बोली—"बेटी, मेरे ही भाग्य फूटे हैं। क्या बताऊँ? किससे बताऊँ? भगवान् के सिवाय मेरी समस्या का समाधान और कोई नहीं कर सकता।"

बार-बार उसे ढाढ़स बँधाया सीता ने और बहते आँसुओं के अन्तराल में जो कुछ वृद्धा ने बताया उससे इतना समझ पायी वह कि पुत्री के विवाह की सारी ज़िम्मेदारी उसके मामा ने अपने कन्धों पर ली थी, लेकिन व्यापार में घाटे की वजह से ऐन वक्त पर अपना असामर्थ्य दिखा, माँ-बेटी को मँझधार में छोड़ चला गया।

"बेटी, परसों बारात दरवाज़े पर आन खड़ी होगी और मेरे पास उन्हें खिलाने के लिए सत्तू तक नहीं है। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, यही सोच-सोच कर मेरा कलेजा हलक को आये जा रहा है।" माई फूट-फूट कर रो पड़ी।

सीता के गाल पर भी आँसुओं की झड़ी बह निकली। कुछ संयत स्वर में आकर बोली—"माँ, तेरी बेटी सारे गाँव की पुत्री है। हम सब मिल कर उसका विवाह सम्पन्न करायेंगे।"

पति के परलोक गमन से पहले बूढ़ी माई ने भी बहुत अच्छे दिन देखे थे, घर में दूध-घी का ताँता कभी टूटा न था। आज दरवाज़े-दरवाज़े जाकर

हाथ पसारना उसे कतई नहीं गवारा। बोल उठी—"बेटी, आज रात ही पुत्री को लेकर कहीं दूर निकल जाऊँगी। ऐसे अपमान का सामना करने की ताक़त मुझमें तो है नहीं।"

अचानक वृद्धा का हाथ अपने हाथों में दबा सीता बोल उठी—"नहीं माँ, कहीं जाने की ज़रूरत नहीं, तू यहीं रहेगी, बेटी का ब्याह भी धूम-धाम से होगा। ज़रा ठहर।" और सीता तुरन्त कहीं दौड़ पड़ी, पलक झपकते वापस आ गयी। तीर्थयात्रा के लिए जोड़े धन की पोटली माई की गोद में रख, हाथ जोड़ कर बोली—"ले माँ, ले। इससे मेरी बहन का विवाह आनन्दपूर्वक सम्पन्न होगा।"

"नहीं बेटी..."

"अगर तू मुझे बेटी कह कर पुकार रही है तो यह धन वापस करके मेरा अपमान न कर माई। तीर्थयात्रा का पुण्य प्रभु मुझे घर बैठे ज़रूर दे देंगे।" कह कर सीता ने माई की बात काट दी।

नयी बनी बेटी के इन वचनों ने वृद्धा को निरुत्तर कर दिया। आशीर्वादों से लदी-फँदी, आनन्द और आह्लाद की मूर्ति सीता अपने घर लौटी। सच है, देने में जो सुख है सञ्चय में तो उसका शतांश भी नहीं मिलता।

घर आकर पति को विस्तारपूर्वक उसने सारी बात बतायी और दयालु पति भी अपनी पत्नी की परोपकारिता पर गद्‌गद हो उठे। लेकिन गाँववालों को इस सारी बात का क्या पता? उसे तीर्थयात्रा के लिए न जाते देख जितने मुँह उतनी कड़वी बातें पति-पत्नी को सुनने को मिलीं।

"अरे, नहीं ही जाना था तो इतना सारा स्वाँग रचाने की क्या ज़रूरत थी भला?"

"हाँ भई! भगवान् के साथ ऐसा मज़ाक। परिणाम भयंकर होगा। भुगतेंगे बैठ कर।"

"अजी कलियुग में जो हो सो थोड़ा। इस घोर युग में तो भगवान् को दिया वचन भी लोग नहीं पालते। शिव, शिव!!"

"अपने लाड़ले को बेमौत मारना है तो भला हम क्या करें अब?"

न जाने ऐसे कितने-कितने व्यंग्य-बाण सुबह से रात तक फेंके गये और दम्पती ने उन्हें सह लिया। उन्होंने अपनी निष्कपटता और दान का ढिंढोरा नहीं पीटा, बस अपनी सच्चाई पर दृढ़ता से खड़े रहे।

मनुष्य आख़िर मनुष्य है। सारे दिन के वाक्-प्रहार ने सीता के मन को छलनी-छलनी कर दिया था। उसका चित्त भी अन्त में डोल उठा था। उसके हृदय की आवाज़ बार-बार फूट पड़ रही थी—"सीता, तूने जो किया भला किया, महापुण्य किया।" लेकिन मन में कहीं धुकधुकी मच रही थी। शान्ति पाने के लिए वह मन्दिर की ओर बढ़ चली। देहली पर किसी के रोने के स्वर से वह चौंक उठी। "यह तो माई रो रही है, हे भगवान्! क्या हुआ?" बिजली का झटका-सा लगा सीता को, लेकिन क्षण-भर में वह सँभल गयी क्योंकि माई के वे आँसू ख़ुशी का झरना थे। वह हाथ जोड़ कर कह रही थी—"हे माँ, मेरी बेटी सीता के दरवाज़े पर कभी दुःख की छाया भी न फटकने पाये। उसकी झोली में दुनिया-भर की सुख-शान्ति, आनन्द और धन-वैभव डाल दे। पुत्र उसका स्वस्थ, सुन्दर, दीर्घायु हो। सारे परिवार की रक्षा करना माँ। उसने मेरी प्रतिष्ठा रखी, उसे गाँववालों के झूठे आरोपों से मुक्त कर दे माँ! हे दयालु माँ, सुन ले इस ग़रीब बुढ़िया की यह सच्ची प्रार्थना।"

माई की प्रार्थना ने सीता के अन्तस्तल को भिगो दिया, न केवल उसके बल्कि मन्दिर में आये गाँव के मुखिया के कानों में भी वह सच्ची प्रार्थना प्रवेश कर गयी और उनका भी रोम-रोम सीता के प्रति कृतज्ञता से भर गया। सीता के निकट जा, दोनों हाथ जोड़ कर बोल उठे—"बेटी, मुझे क्षमा करना, सारे गाँव की ओर से मैं तुझसे माफ़ी माँग रहा हूँ। जिस भले काम के लिए तूने अपने पति की पसीने की सारी कमाई दे डाली वह सचमुच प्रशंसनीय है। बूढ़ी माई की प्रार्थना के साथ-साथ सारे गाँव की सम्मिलित प्रार्थना तेरे परिवार की कुशल-क्षेम के लिए उस प्रभु तक उठेगी, वह तेरे पुत्र को दीर्घकाल तक अपने आँचल के साये में रखेगा ऐसा न केवल मेरा विश्वास है बल्कि श्रद्धा है। तूने तो बेटी महातीर्थयात्रा का पूरा-पूरा पुण्य घर बैठे ही पा लिया, न केवल तूने बल्कि अचेतन रूप में हम सबने भी ज़रूर उस पुण्य का शतांश तो पाया ही होगा, क्योंकि पुण्यात्मा की संगति से सामान्य मनुष्य अछूता तो नहीं रहता।"

गाँव के मुखिया दोनों हाथ पसार कर देवी माता से कह उठे—"नमन हे मातः! नमन है तुझे। वर दे कि हमारे गाँव की गरिमा सदैव इसी तरह बनी रहे।"

चारों दिशाएँ आनन्द से ऊभ-चूभ करने लगीं, मूर्ति के आनन पर भी मन्द हास बिखर उठा मानों माँ ने सारी प्रार्थनाएँ स्वीकृत कर ली हों।

उस रात सीता के सपने में माँ का वही स्मितानन तथास्तु की मुद्रा में प्रकट हुआ। और अगली रात माँ के मन्दिर के आँगन में पूरा परिवार प्रार्थना में लौलीन जुटा था—वह था सीता का पूरा कुटुम्ब, यानी सारा गाँव!

'पुरोधा', अप्रैल २००२ से —वन्दना

प्रार्थना

आत्मोत्सर्ग सच्ची प्रार्थना है

(पुष्प का श्रीमाँ द्वारा दिया गया आध्यात्मिक अर्थ)

वानस्पतिक नाम : Zephyranthes

मुखपृष्ठ

'हंस भारतीय प्रतीक है व्यक्तिगत अन्तरात्मा का, केन्द्रीय सत्ता तथा उस भागवत अंश का जो भगवान् की ओर मुड़ा हुआ है और जो भगवान् से अवतरित होकर अन्तरात्मा में उतर आता है।' —श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर, झुंझुनू
श्रीअरविन्द दिव्य जीवन शिक्षा-केन्द्र, झुंझुनू (राजस्थान)

श्रीअरविन्द सोसायटी द्वारा स्थापित इस संस्था का मूल उद्देश्य श्रीअरविन्द व श्रीमाँ के मनुष्य जाति के लिए दिव्य जीवन के स्वप्न को साकार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह केन्द्र ऐसे श्रद्धालुओं के समूह के निर्माण की अभीप्सा रखता है जिनके जीवन का केवल यही उद्देश्य हो।

यह केन्द्र पूर्ण रूप से आवासीय है जिसमें छात्र-छात्राओं की शिक्षा, आवास व भोजन पूर्णतः निःशुल्क है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी है। शैक्षणिक सत्र हर वर्ष १५ अगस्त से प्रारम्भ होता है तथा केवल ६ से १२ वर्ष तक की आयु के बच्चों को ही प्रवेश दिया जाता है।

यह केन्द्र पूर्ण शिक्षा प्रदान करने तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए समस्त साधन प्रदान करने की अभीप्सा रखता है। जो अभिभावक अपने बच्चों के लिये सरकारी प्रमाण-पत्र, डिग्री व डिप्लोमा की आकांक्षा नहीं रखते अपितु उनकी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के अनुरूप उनके पूर्ण व सर्वांगीण विकास की अभीप्सा रखते हैं और अपने बच्चों को इस शिक्षण-संस्था में प्रवेश दिलाने के इच्छुक हैं, वे पूरी सूचना के लिए निम्नलिखित पते पर सम्पर्क करें।

जो आध्यात्मिक पिपासु इस केन्द्र के कार्य में सहयोगी होना चाहते हैं तथा अपना जीवन इस कार्य में लगा कर साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे लोग अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें :

पंकज बगड़िया
श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर
मीरा अम्बिका भवन, खेतान मोहल्ला
पो०-झुंझुनू—३३३००१ (राजस्थान)
टेलीफोन—(०१५९२) २३५६१५
टेलीफैक्स—२३७४२८
e-mail: sadlecjjn@rediffmail.com
URL: WWW.sadlec.org

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

Date of Publication: 1st June 2019 (Monthly)
Rs. 30

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 4. My son's journey with this school started 5 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 4

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2018-19

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 onwards

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gurugram
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gurugram
+91 124 4681600, +91 9821786363